कृतज्ञ-स्मरण

प्रस्तुत सकलन का प्रारूप दिसम्बर '81 मे विदिशा प्रवास के समय कविश्री नागार्जुन और त्रिलोचन की कल्पना मे उभरा था। मेरे द्वारा उसका क्रियान्वयन वस्तुतः उनके आदेश-पालन का प्रतिफल मात्र है जो कविवर शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल और श्रीमती शाता मुक्तिबोध के सक्रिय उदार सहयोग के अभाव में असम्भव था।

विजय बहादुर सिंह

जन-कवि

केदारनाथ अग्रवाल
नागार्जुन
त्रिलोचन
शमशेर
मुक्तिबोध

सम्पादक
विजय बहादुर सिंह

"देखो देखो—
वे आजाद आदमी से डरते है
सारी दुनिया आजाद आदमी से डरती है
क्योंकि उसकी हथेलियाँ
इस दुनिया को रचती है
और फूल और साँप के फनों का अन्तर नहीं जानती
उन्हे एक-सा थाम लेती है।"

—स्मृतिशेष सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

कविश्री भवानीप्रसाद मिश्र के लिए

क्रम

प्रसंगवश

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन के भीतर सक्रिय काव्य-प्रवृत्तियो और रचनाकारो के छनने और सुस्पष्ट आकार ग्रहण करने मे वक्त लगता है। यह बात जितनी प्रगतिवादी साहित्य के लिए लागू होती है, उतनी अन्यो के लिए नही। छायावाद को कुल बीस या पच्चीस साल ही लगे, जबकि प्रयोगवाद या नयी कविता को मशहूर होने के लिए उससे भी कम समय की जरूरत पडी। किन्तु प्रगतिशील कविता का दायरा इतना विस्तृत है, और रचना-स्वभाव इतना उदार और बहुधर्मी कि उसके निथरने और आकार लेने मे काफी वक्त लगा। चुनौतियाँ भी कम टेढी न थी। जिन्होने सरलता से जवाब दिया वे आन्दोलन के कवि बन कर रह गये। अपने समय के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दबावो का स्थूल और तथ्यपरक वर्णन करके वे सिर्फ यह कह पाये कि कविता मे अभिव्यंजना की ताज़गी और शैलीगत मौलिकता कोई ज्यादा जरूरी चीज नही है; जबकि इस सोच मे खोट स्पष्ट है। कविता और कवि अगर कला या साहित्य होते है तो उनकी कथन-भगिमा भी सामान्य से कदाचित कुछ भिन्न होगी ही। यही भिन्नता मार्मिकता, उक्ति-वक्रता और रसमयता के साथ-साथ 'ज्ञानात्मक सवेदना' तक को समेटती है, जहाँ शब्द-कर्म अपने वस्तु-स्वभाव के अनुसार अपनी पहचान निर्मित करता है। केवल किसी दलीय प्रतिबद्धता अथवा समाज-दर्शन का पांडित्य अर्जित कर लेने मात्र से कोई बडा रचनाकार नही हो जाता। इससे तो सिर्फ विचार की नवीनता-भर आती है। असल बात तो यह है कि उसके सवेदनात्मक बोध का धरातल कितना यथार्थोन्मुखी है और उक्त यथार्थ-दर्शन कितना तीव्र चिन्तापूर्ण ? यथार्थ-दर्शन के साथ जुडी हुई यह तीव्र चिन्ता जब अपने वस्तु-ससार के दायरे मे खेत-खलिहान, बाढ-प्रकोप, भूख-अकाल, प्यार और लोक-सहानुभूति के भावो को शामिल करती है तब देखना सिर्फ यह पडता है कि कवि का मकसद कही हमे मात्र दृश्य-तन्मय करना तो नही है? क्या वह हमारी सुषुप्त सामाजिक सवेदना

सामाजिक दायित्व-बोध को जगाता भी है। कहना होगा, अगर छायावादी कविता गहरे अर्थों मे सांस्कृतिक है, तो उन्ही गहरे अर्थों मे हमारी यह कविता राजनीतिक और सामाजिक है। छायावाद हमारी परम्परागत ऐतिहासिक मनुष्यता का सबसे सुन्दर और गंभीर स्वप्न है, तो यथार्थवाद वह आधुनिक जागरण जिसमे दलित और शोपित किन्तु अपनी स्थितियो को बदल डालने का सकल्प लेकर चलने वाली जनता के संघर्ष और व्यथा के चित्र अंकित है। इस रूप मे छायावाद और प्रगतिवाद प्रतिद्वन्द्वी काव्यान्दोलन नही, विकासक्रम मे आनेवाले युग है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी से केदार, त्रिलोचन, नागार्जुन और शमशेर ने काफ़ी कुछ सीखा ही नही, लिया भी है। उनकी अतिक्रामक दृष्टि ली है, जो सिर्फ वादग्रस्त नही कही जा सकती। उनकी लोक-करुणा और सवेदना ली है, जिससे कविता सघन रूप से
मीय हो उठती है। गिनाया जाये तो ढेरों चीज़ें है। यहाँ कहना सिर्फ यही कि
ी साहित्यिक चिन्ताएँ भी ऐतिहासिक क्रम मे विकसित होती है और उसी
स ् कला या साहित्य-चेतना मे विकास और प्रौढता के सोपान आते रहते है।
यथार्थवादी लेखन पर विचार करते हुए हमे यह याद रखना ही होगा कि
ो को अपनी साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए जो संघर्ष करना पडा, उसमे
ु की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। व्रज भाषा की रमणीयता और स्त्रियो-
त कोमलता के स्थान पर राजदरबारो से बाहर जनता के उन्मुक्त किन्तु सघर्ष-
ं जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली यह खडीबोली, अपने शैशवकाल से ही
क और राष्ट्रीय समस्याओ से जुडी रही। भारतेन्दु और उनके समकालीनो
। साहित्य इसका गवाह है। सामाजिक कुरीतियाँ, आर्थिक अभाव, अंधविश्वास और अशिक्षाजन्य जडता ही नही, सामाजिक भेद-भाव और गुलामी तथा कुशासन की चिंता भी उस युग के साहित्य मे साफ-साफ झलकती है। अकारण ही नही कि जयशकर प्रसाद आधुनिक यथार्थवाद की शुरुआत भारतेन्दु से मानते हुए लिखते हैं—"इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी मे प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेंट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दुजी को उनका विरोध करना पडा।" स्पष्टत. यथार्थवादी शैली शुरू से ही जातीय अस्मिता की रक्षा और साम्राज्यवादी साज़िशो के प्रतिवाद की भावना से जन्मी थी। बाद मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त के लेखो मे भी हमारा जातीय संकट और उससे उबरने की छटपटाहट व्यक्त होती है। और यह सब केवल साहित्य मे ही हो रहा था, सो भी नही। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द के विचारो और चिन्ताओ के केन्द्र मे भी यही सब-कुछ था। इसलिए खडीबोली जब सामने आयी तो समाज-सुधार, राष्ट्रीय भावना और मुक्ति का स्वप्न लेकर आयी। और मै इसे प्रगतिशीलता का ही भूमिका भाग

को जगा कर किसी नयी भाव-दिशा की ओर प्रवृत्त करना चाह रहा है ? प्रेमचन्द ने जब प्रगतिशील लेखक सघ के माध्यम से जागरण के साहित्य की माँग की थी तब भी जागरण का साहित्य लिखा जा रहा था, किन्तु वह मात्र आज़ादी प्राप्त करने वाले अर्थ तक ही सीमित था। भगतसिंह और प्रेमचन्द (या उन जैसी सोच वाले अन्य) सिर्फ आजादी की माँग करने वालो मे से नही थे, उनके सामने सत्ता-परिवर्तन का प्रश्न तो था ही, व्यवस्था-परिवर्तन का भी प्रश्न उपस्थित था। फ़िलहाल हमारा सारा यथार्थवादी लेखन इसी व्यवस्था-परिवर्तन के प्रति प्रतिश्रुत है। अतः वह सश्लिष्ट सौन्दर्य-बोध के बदले अधिक विश्लेषणोन्मुख और विचाराधारित है। वर्ग और वर्ण के बारीक द्वन्द्व की गहरी छानबीन का उपक्रम करने वाला यह लेखन उच्चकोटि की बौद्धिक प्रखरता और उदात्त मानवीय चिन्ताओ से घिरा हुआ है जिसमे स्वाधीनता और आत्ममगल के और आगे सामूहिक मुक्ति और लोकमगल के सपने सुरक्षित है। हमारा यथार्थवादी लेखन इसीलिए सिर्फ़ राजनीतिक या सामाजिक आलोचना नही है, व्यग्य की तीखी और दबग मार नही है, क्रूर और सहारधर्मी शब्द-हिंसा नही है, वह उन मूल्यो की प्रस्तावना भी है जिनसे नयी सामाजिकता और नव-मनुष्यता का निर्माण होना है। व्यापक सामाजिक मनोभाव, स्वातत्र्य भावना,अधिकार-बोध और श्रमधर्मिता के आधार पर एक ऐसे विश्व का निर्माण'जहाँ मनुष्य ही मनुष्य का खाद्य न हो। एक शासक दूसरा गुलाम न हो। एक याचक दूसरा दाता न हो। एक अतिउच्च ब्राह्मण दूसरा अधम हरिजन न हो। आर्थिक गैरबराबरी और सामाजिक विषमता का घनघोर प्रत्याख्यान हमारा यह यथार्थवादी लेखन करता है, इसीलिए एक अर्थ मे यह राजनीतिक लेखन भी कहा जा सकता है, और कहा जाता भी है। धर्म और राजनीति प्रकारान्तर से एक ही अर्थ का सवहन करते है। प्रख्यात समाजवादी चिंतक डॉ० लोहिया की यह स्थापना बिलकुल सही है कि एक लम्बे अरसे तक चलने वाली राजनीति का नाम धर्म है और कम समय मे शुरू होने वाले धर्म का नाम राजनीति है।

इस अर्थ मे हमारा यथार्थवादी लेखन जितना राजनीतिक है, शायद उतना ही धार्मिक भी, क्योकि वह एक नयी जीवन-व्यवस्था की माँग है, जिसमे उच्चकोटि की मानवीय नैतिकता और गरिमा का आग्रह अन्तर्निहित है। शून्य मे लीन हो जाने वाली चिदात्मकता और पिंड मे केन्द्रित आध्यात्मिकता निश्चय ही इस लेखन की आकाक्षा नही है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि हमारा यह साहित्य भौतिकवादी अथवा वस्तुवादी है, ठीक उसी तर्ज पर जिस पर छायावादी रचना-ससार अध्यात्मवादी हो जाता है। उधर अगर अनुभूति की सूक्ष्मता और कल्पना की रगीन और ऊँची उडान हमारा ध्यान खीचती है, तो इधर सामाजिक जीवन के प्रत्यक्ष अभाव, आर्थिक यातनाएँ, ठोस किस्म के निर्द्वन्द्व अधविश्वासो का वस्तुवाद अपनी वास्तविकता से हमे मर्माहत ही नही करता, हमारे सुषुप्त

मानता हूँ। क्योंकि कोई भाषा अपने गंभीर और प्रौढ विचारों के लिए एक दिन मे तैयार नही हो जाती। उसे इस योग्यता तक पहुँचने में वक्त लगता है। क्या कारण है कि अपनी तमाम जागरूकता और प्रचड प्रतिभा के बावजूद भारतेन्दु ने काव्य-रचना के सदर्भ मे खडीबोली से हाथ जोड लिया और गद्य में उसे साथ लिये रहे? कारण साफ है, भाषा तब तक व्यवस्थित न हो सकी थी, मँजाव तो ख़ैर उस वक्त क्या आता! तब भी वह युग इस लिहाज से काफी महत्वपूर्ण है कि जो आग कबीर, तुलसी आदि ने जलायी थी, वह रीतिकालीन शीतल चाँदनी रातो के बावजूद बुझी नही और खडीबोली के रचनाकारो ने उसे बाकायदा अपनी थाती के रूप मे दुबारा सम्हाला।

प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत के पहले भी जो साहित्य लिखा जा रहा था, उसका एक बडा हिस्सा राष्ट्रीय चिन्ताओ से घिरा हुआ था। आज क्या हम 'भारत भारती' की भूमिका को एकदम रद्द कर सकते है? क्या उसकी प्रमुख चिन्ता हमारे ऐतिहासिक पतन और उससे उबरने को लेकर नही थी? क्या द्विवेदी-युग के लेखन को सिर्फ स्थूल राष्ट्रीय और इतिवृत्तपरक कहकर हम छुट्टी पा लेंगे? रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध, गुरुभक्तसिह 'भक्त' और श्रीधर पाठक की उस मनोभूमि की चर्चा क्या हमारे लिए अब ज़रूरी नही रह गयी है? क्या ये रचनाकार सचमुच ही रजनी-सजनी का साहित्य लिख रहे थे? आख़िर इनके लेखन का मकसद क्या था? स्पष्टत: ये सभी गहरे तौर पर सामाजिक जीवन की समस्याओ से जुडे हुए थे और खडीबोली की साधना मे जातीय इतिहास, संस्कृति और लोकभाव को समेटने का पुरजोर यत्न कर रहे थे। 'प्रगतिवाद (का): पुनर्मूल्याकन' करते हुए हसराज रहबर लिखते है, "हिन्दी कवियों और लेखको ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर 1947 तक देशभक्ति की भावना से प्रेरणा प्राप्त की है और आदर्शवादी परम्परा के भीतर साहित्यिक यथार्थवाद को विकसित किया है।" आज हम इनके प्रयासो की सीमाएँ तो बता सकते हैं, किन्तु इनके समर्पण और ईमानदारी पर शक नही कर सकते। गरीबो और दुखियों, दीनो और दरिद्रो की व्यथा की मार्मिक गूँज इनके साहित्य मे मिलती है। 'मैं ढूंढता तुझे था जब कुज और वन मे' जैसी कविताएँ उसी दरिद्रनारायण को प्रतिष्ठित करती आयी। स्वय उर्मिला [साकेत] और राधा [प्रियप्रवास] अपने व्यक्तिगत सुख-दुख से पुलकित या शोकमग्न नही है, उन्हे अपने देश के गरीब किसानो के हालात प्रभावित करते है। निजी दुखो को भूलकर वे लोक की पीडा से विचलित होती दिखायी गयी है। छायावादी 'श्रद्धा' [कामायनी] मनु के अहग्रस्त व्यक्तिवाद को शमित करने के खयाल से उपदेश-कथन तक उतरती है—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ

अपने सुख को सीमित कर लो
सबको सुखी बनाओ।

व्यक्ति से अधिक समाज मूल्यवान है, यह विचार पहले से चला आ रहा था। व्यक्तिवाद का समर्थन न तो भारतेन्दु करते है,न महावीरप्रसाद द्विवेदी, न प्रसाद या निराला। मोटे अर्थो मे ये सब प्रगतिशीलता की चेतना के उन्नायक हैं, अगर कम्युनिस्ट पार्टी के कार्ड-होल्डर ही को प्रगतिशील माने जाने की कट्टर विवशता न हो तो। दुहराना सिर्फ यह चाहता हूँ कि हमारे इन रचनाकारो मे प्रगतिशीलता के तत्व भरपूर मात्रा में विद्यमान थे। आखिर 'तितली', 'कुल्लीभाट' और 'चतुरी चमार' किसने लिखा ? इन्ही छायावादियो ने। इन्हें किस पार्टी ने सवेदना की इस धरती पर उतरने को मजबूर किया ? और क्या ये कृतियाँ हमारे यथार्थवादी लेखन की विरासत नही है ? अगर नही है, तो यथार्थवाद और सम्प्रदायवाद मे फ़र्क क्या रह जाता है ? इसलिए हम कहना चाहेगे कि आदर्शवाद की सीमाओं मे यह यथार्थवादी साहित्य का अंकुरण था जो स्वयं आदर्शवादियो की खाद और बीज की देन था। ज़रूरी सिर्फ़ यह था कि इस यथार्थवादी लेखन-प्रवृत्ति को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से जोड़ा जाये और यही काम हमारे प्रगतिशील आन्दोलन ने किया भी। तब भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के पहले ही हिन्दी मे समाजवादी विचारधारा का प्रवेश हो चुका था और हमारे कवि और लेखक नयी समाज-रचना मे अपनी भूमिका निभाने का सकल्प लेकर सक्रिय हो चुके थे। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'भारत मे अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' शीर्षक ग्रंथ मे 'हिन्दी प्रदेश मे समाजवादी चेतना का प्रसार' वाले अध्याय मे यह विचार व्यक्त किया है कि "1857 से आरभ होने वाला सारा घटनाक्रम, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय का सारा चिंतन, हिन्दी प्रदेश के क्रांतिकारी विचारको, पत्रकारों, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ का सारा श्रम और कर्म स्वत·स्फूर्त ढंग से एक ही दिशा की ओर प्रवाहित था।" आगे वे इसे और साफ करते हुए लिखते है, "यह दिशा साम्यवाद की थी।" [पृ० 330-31]

भारतीय समाज के आर्थिक पिछड़पन, साम्राज्यवादी देशों द्वारा किया जाने वाला उसका शोषण, हमारे इन रचनाकारों की चिन्ता में शामिल था। इतना ही नही, देशी जमीनों पर भी वे यह देख पा रहे थे कि विपमता कितनी बढ गयी है। चंद धनी-मानी लोग असंख्य गरीबों की कमाई पर राज कर रहे है। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने 1920-21 के आस-पास जो साहित्य लिखा उसका मुख्य स्वर भारतीय समाज की इसी विपमता को दर्शाना और सवेदनशील आबादी को विचार-केन्द्रित करना था। पत ने तो बहुत बाद मे चलकर यह लिखा कि वाणी को अलंकार की जरूरत नही, विचार-प्रकाशन की ज़रूरत है, कविता अगर जनोन्मुख विचार व्यक्त कर सकती है तो उसका होना सार्थक है। यह धारणा

'सनेही' जी काफ़ी पहले व्यक्त कर चुके थे। जनवादी विचार को जन-मन तक पहुँचाने वाले मार्ग के रूप मे कविता उनके लिए महत्वपूर्ण माध्यम जान पडी और उन्होने 'सजीवनी' कविता-सग्रह के निवेदन मे कहा कि कविता का काम अपने पाठको को विषय-विशेष का ज्ञान कराना है। इससे पहले भी उनका एक संकलन सामने आ चुका था, 'राष्ट्रीय मत्र'। तब सनेही जी 'त्रिशूल' थे। इन्ही सकलनों से दो उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है—

श्रम किसका है मगर मौज है कौन उडाते
है खाने को कौन, कौन उपजा कर लाते
किसका बहता रुधिर, पेट है कौन बढाते
किसकी सेवा, और कौन है मेवा खाते

[राष्ट्रीय-मंत्र]

जोते खेत किसान, अन्न हो जमींदार का
काम करे श्रम-शील, माल हो साहुकार का

हिन्दी मे 'प्रगतिवाद' के पहले से ऐसी रचनाएँ लिखी जा रही थी। डॉ० शर्मा ने अपनी किताब मे राधामोहन गोकुल जी का विस्तृत उल्लेल किया है, जो आचार्य शिवपूजन सहाय और निराला के मित्रो मे से थे और साम्यवादी विचारो के लेखक थे। उनकी पुस्तके 'देश का धन' [1908],'कम्युनिज्म क्या है'[1925] इसी विचारधारा को प्रकट करने वाली कृतियाँ है। 1908 मे ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'सम्पत्ति शास्त्र' नामक एक पुस्तक की रचना की जिसमे यह विचार व्यक्त किया गया,"प्रजा के हितचितको की राय है कि इस देश की जमीन प्रजा की है। न राजा की है, न जमीदारो की। जो जमीन जिस काश्त-कार के कब्ज़े मे चली आती है, उसे उसकी मौरूसी जायदाद समझना चाहिए।" द्विवेदीजी ने स्वय तो इन विचारो को लिपिबद्ध किया ही, अपने आस-पास ऐसे लेखको की तलाश भी की कि जो 'सरस्वती' मे इस प्रकार के लेख लिखते रहे। इसलिए आज यह नही कह सकते कि छायावादी विस्फोट की तरह प्रगतिवाद भी एक स्वत स्फूर्त विस्फोट था और उसकी कोई पूर्वभूमिका नही थी। वह भूमिका यही थी। उसी परम्परा मे प्रेमचन्द और आचार्य शुक्ल जैसे बड़े लेखक आये। 'लोभ और प्रीति' निबध मे शुक्लजी लिखते है—'मोटे आदमियो। तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते—अपने अदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियो पर मास चढ जाता।" आगे चलकर निराला और पंत तथा समीक्षा के क्षेत्र मे क्राति-कारिता और सामाजिक विद्रोह का समर्थन करने वाले आचार्य वाजपेयी ने भी कला-तत्वो का आग्रह करते हुए भी मानव-मुक्ति और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की आकाक्षा विश्वव्यापी ज़मीन पर की।

यह सही है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे समीक्षकों ने पश्चिमी अनुकरणों का विरोध करते हुए वाद-विमुक्त साहित्य-सर्जना की माँग की, किन्तु यह माँग पुराने, घिसे-पिटे, दकियानूस जीवनादर्शों की न होकर क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तनों और मर्यादाओं की थी, इसे जान लेना होगा। 'नया साहित्य नये प्रश्न' में नवीन यथार्थवाद वाले निबंध में वे लिखते है—"ऊपर मैंने जो कुछ कहा उसका यह मंतव्य नही कि कवि और साहित्यकार वदलते हुए समय और वदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप नये विचारों का स्वागत न करें। मैं कह चुका हूँ कि अपनी तीव्र सवेदनाओं के कारण वे ही नये युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते है। नयी जीवन-स्थितियाँ उन पर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती है और नये ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते है। वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढाँचा वदल रहा है और नयी समस्याएँ सामने आ रही है। इनका असर सारी सामाजिक रीति-नीति और प्रथाओ पर पड रहा है। इन सव में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। कहना तो यह चाहिए कि तीव्र वेग से घटित होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नयी जीवन-शक्तियो को न पहचानना और प्रगति का साथ न देना,न केवल अदूरदर्शिता होगी, आत्मघात भी कहा जायेगा।" (पृ० 20) हमारे कई-कई कठमुल्ले साथियों को यह सव नहीं दिखायी देता और वे परम्परा की प्रगतिशील दृष्टियो को प्रतिक्रियावादी साबित करते रहते है। यह तो सभव है कि ये प्रगतिशील दृष्टियाँ मार्क्सवाद का झंडा न उठाएँ, पर सामाजिक प्रगति और राष्ट्रीय विकास मे इनकी आस्था असंदिग्ध है। और आज हमे अपनी चिंतन परपरा को सवल एवं समृद्ध करने के लिए इस परंपरा का पुनरीक्षण आवश्यक है। पत और निराला ही नही, प्रसाद और महादेवी की काव्य-साधना का पुनर्मूल्याकन जरूरी है और देखना यह है कि उनमे हमारे लायक़ क्या-कुछ है? सीधा अस्वीकार कोई विवेकसगत आचरण नही। बड़े छायावादियों मे विराट मानवता के दर्शन तो होते ही है, सामान्य मनुष्य के आत्म-संघर्ष और उसकी कठोर साधना का भी उल्लेख होता है। मनुष्य की मनुष्यता की पूजा की सृजनात्मक शुरुआत तो वस्तुत. यहीं से प्रारम्भ होती है। और आने वाले युवा उत्तर-छायावादियों के काव्य में जो सहजता, इहलौकिकता, ठेठ देशजता और रूढि-विरोध का स्वर मिलता है, वह यों ही नही है। वच्चन जैसे कवियों के काव्य में हिन्दुस्तानी युवक की मस्ती-भर नही, उसकी वे बेचैनियाँ भी देखी जा सकती है जो कठोर संकीर्ण सामाजिकताओं और साम्प्रदायिक भेद-भाव के वीच तड़फड़ा रही थीं। इसे केवल रोमांस का विस्फोट नही कहा जा सकता। वच्चन पर विचार करते हुए सेकेविच के इस विचार को मद्देनज़र रखना होगा कि 'मधुशाला' के काव्य-नायक मे जो फक्कड़ता है, वह सिर्फ़ स्वप्न और नशे की दुनिया मे ही डुबाने का एक पलायनवादी विकल्प नही सौंपता। कभी वह

केवल स्वतंत्रता का ही पर्याय बन जाती है, तो कभी मंदिर, मस्जिद, गिरजे जैसी मानसिक दासता और सामाजिक अन्याय के साधनो के विरोध का पर्याय बन जाती है। अपनी रूढ सामाजिक स्थितियो के प्रति हमारे इन कवियों मे तीव्र विरोध भाव था। पर ये कवि सामूहिक जीव-नशैली और नवनिर्माण के प्रति कामना-विह्वल थे। हिन्दी कविता को जन-जीवन से जोड़ने का काम इन कवियो ने किया। पढे-लिखे निम्नमध्यवर्ग और मध्यवर्ग के श्रोताओ और पाठको मे इन तीव्र उमगो के प्रति जबरदस्त ललक थी। किंतु यह केवल कठ-माधुर्य नही था, कविता की वह विचार-सत्ता थी जो जकडे हुए किन्तु स्वतत्रताकामी मन को आकृष्ट कर रही थी। इस स्वतंत्रता को और अधिक आर्थिक और सामाजिक आधार देने का काम जिन कवियो ने किया उनमे राष्ट्रीय भावनावाले कवियो के साथ यथार्थवादी कवियो की भी एक पीढी सक्रिय थी। असलियत यह है कि सन् 1930-35 तक हमारे साहित्य की जनवादी दृष्टि राष्ट्रीय और सास्कृतिक विचारो की छाया मे ही विकसित होती रही और बीसवी शती के पूर्वार्ध के हमारे इन महान लेखको ने आगे आने वालो के लिए वह जमीन तैयार कर दी थी जिस पर समाजवादी लेखक आकर अपना काम शुरू कर सकता था।

इस लिहाज से कई युवा कवि सामने आये—सुदर्शन, शील, शैलेन्द्र, मलखानसिंह सिसौदिया, शिवमगलसिंह सुमन; और भी कई नाम जिन्हे चाहे तो गिनाया जा सकता है। इन कवियो के पास राष्ट्रीय भावना तो थी ही, समाज-परिवर्तन वाली उत्साही आकुलता भी थी। छायावादी संवेगपरकता और अपने समय की फाकेमस्ती और दीवानगी भी इनकी कविता मे प्रकट हुई। किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण यह कि ये सभी कवि जनता के उन्नत जीवन के पक्षधर थे और इनकी कविता मे यह पक्षधरता पूरे जोशोखरोश के साथ प्रकट हुई। यह भी सच है कि ये सब किसी फैशनवश इस ओर नही आये थे। इनकी राष्ट्रभक्ति ही इन्हे यहाँ ले आयी थी। किन्तु इनमे से अधिकाश की कविता या तो बहुत स्थूल रूप मे आन्दोलनात्मक और प्रचारधर्मी थी या फिर परिवेशगत यथार्थ की विश्लेषण-क्षमता के प्रति असावधान। उत्साह और समर्पण के बावजूद इसीलिए ये कवि अपनी रचनात्मक भूमिका को बहुत अधिक वजन नही दे पाये। सुमन जी अपने रोमानी सस्कारो से भिडने के बजाय और अधिक रोमनी होते गये, शैलेन्द्र फिल्मो की ओर चले आये और शील जैसे कवि मजदूर-आन्दोलनो मे व्यस्त हो गये। तब भी 'शील' जैसों की आस्था में कोई विचलन कभी नहीं आया। वे तब भी अति-क्रांतिकारी उत्साह और विचार-दृढता से लैस थे, आज भी अपनी विनम्र किन्तु कट्टर निष्ठा में बेजोड़ हैं। नाटको और कविताओ के मार्फत उनके जीवन का रचनात्मक सघर्ष देखा जा सकता है। आज भी उनकी कविता के ये सवाल हमे परेशान करते है—

आप राजनीति से भयभीत हैं—
भयभीत रहे।
आप सड़ी-गली सभ्यता गले लगाए हैं—
लगाए रहे।
आप मृत से लिपटे है—लिपटे रहे।
×   ×
राजनीति के जटिल सघर्ष मे—
मै यहाँ हूँ, तुम कहाँ हो, ये कहाँ है, वे कहाँ है?

[कर्मवाची शब्द है ये, पृ० 37]

यह जो कवि की जन-पुकार है, इसे समझने की जरूरत है। उसकी गंभीर बेचैनियो का यह सिलसिला आज भी कविता मे जारी है और पहले दौर की प्रगतिशील कविता मे भी मौजूद था। उन्ही दिनो उर्दू मे मजाज ने अपनी 'आवारा' (ए गमेदिल क्या करूँ, ए वहशते-दिल क्या करूँ?) नज्म मे लिखा—

मुफलिसी और ये मुजाहर है नजर के सामने
सैकड़ों सुल्तानो-जाबर है नजर के सामने
सैकडों चगेजो-नादिर है नजर के सामने
ऐ गमे-दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ?

मजाज अपने भरपूर रोमानी स्वभाव के बावजूद अपने समय के क्रूर चेहरे को पहचानने मे सबसे आगे थे। असमानता, विपम-जीवन-व्यवस्था, जनविरोधी सामतवाद इसलिए उनकी कविता के मुख्य दुश्मन थे। वे अपने वर्ग-शत्रुओं की सही पहचान की दिशा मे बहुत तेजी से आगे बढ रहे थे। खडीबोली मे इस व्यवस्थित और सतुलित दृष्टि का प्रवेश गद्य मे तो प्रेमचन्द से हो चुका था, पर कविता मे इसका आरंभ सन् 1940 से माना जाना चाहिए, जब कवियो की एक और पीढी—नागार्जुन, शमशेर, केदार, मुक्तिबोध और त्रिलोचन आये। इस इतिहास में न पडते हुए कि कौन किसके पहले आया—मै यह कहना चाहूँगा कि हमारे ये कवि अपने रचनाकर्म के माध्यम से वामपथी जनवादी कविता की लडाई आज तक लडते रहे है।

शुरू-शुरू में जब शील और सुदर्शन चक्र, शैलेन्द्र, पढीस, बलभद्र दीक्षित और बच्चन के साथियो मे अंचल, नरेन्द्र शर्मा और सुमन आये थे, तब भी कविता अपने ढंग से विकसित हो रही थी। इन कवियो मे विषयगत-ताजगी के अलावा लोकसवाद करने की भरपूर क्षमता थी। ये कविता और

राजनीतिक जीवन ही नही, सामाजिक और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय भावभूमि को भी अपने भाव-संसार के दायरे मे शामिल करने लगे थे। लोक और नागर-जीवन, राष्ट्रीय पराधीनता और विदेशी शासको के प्रति तीव्र प्रतिकार की मंशा के साथ-साथ एकजुटता, पारस्परिकता, मोर्चाबन्दी और कर्मठ उत्साह का स्वर इनकी कविताओं में आसानी से देखा जा सकता है। शैलेन्द्र ने इसी समय लिखा था—'हर ज़ोर-ज़ुल्म के टक्कर मे संघर्ष हमारा नारा है।' इसके साथ ही वह यथार्थ भी व्यक्त होता रहा जिसकी मूल अनुभूति सामाजिक और राजनीतिक उलट-फेर थी। प्रगतिशीलता के पहले दौर मे आने वाले कवियो में शील (मन्नूलाल द्विवेदी) ने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी निभायी, बल्कि समाज और जन-जागरण के लिए नाटक, फिल्म, सत्याग्रह का रास्ता भी अख़्तियार किया। ये वे कवि थे जो गुलाम देश के स्वातंत्र्य संघर्ष की कोख से पैदा हुए थे और हर कीमत पर स्वाधीन रहने और होने को कृत-संकल्प थे। राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता का यह मिला-जुला स्वर शील मे ही नही, सुमन जैसे कवियों मे भी मिलता है। किन्तु अपनी बहिर्मुखी सक्रियता और मचीय उपलब्धियो के चाकचिक्य मे इनकी कविता प्रगतिशीलता का विधिवत दोहन न कर सकी। फलत: ये कवि सामाजिक, राजनीतिक और अन्यान्य मोर्चों पर स्वय को अतिशय व्यस्त रखते हुए कविता की गंभीर भूमियो की ओर जाने की सम्भावना खो बैठे और अचल, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा जैसे लोग इस या उस ओर मुड़ गये। शुरू के इन कवियो ने आत्ममंथन और आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया ही नही अपनायी। कभी समय के दबाव ने इन्हे परिचालित किया तो कभी पूर्ववर्ती छायावादी सस्कारो ने। बात तो दिनकर, नवीन और माखनलालजी जैसे कवियो की भी हो सकती है, जिनके पास संघर्ष और रचनात्मक आग की कोई कमी न थी, पर राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधी के प्रभाववश जिनका विद्रोही व्यक्तित्व अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति न पा सका। आवेग-सम्पन्न होने के बावजूद इनकी कविता मे छायावादियो-सा गम्भीर चिन्तन-मनन और युग-सापेक्ष दृष्टि नही विकसित हो पायी। हुआ यही कि ये प्रतिभाधर जीवन के अंतिम दिनो मे अपनी-अपनी भूमिकाओं से बेहद असंतुष्ट दिखे। कहने में कोई हिचक नही कि अगर सन् 36 मे शुरू होने वाला प्रगतिशील साहित्यान्दोलन अपनी राष्ट्रीय भूमियों का विधिवत विश्लेषण-परीक्षण-मूल्यांकन करता हुआ हिन्दी कविता के कुल-खानदान वाली सामाजिक भावभूमि की पीठ ज़रा उदारता से थपथपाता तो पिछले दिनो का जो साहित्यिक वनवास हमारी वाम कविता को भुगतना पड़ा, वह टल जाता।

हमारे अपने आलोचको की वैचारिक कट्टरता और संकीर्णता का ही यह हश्र हुआ कि प्रगतिशील कविता निरन्तर लेबुल और वाद के घेरे मे हाथ-पांव सिकोड़ कर बैठ जाने की नियति की शिकार हुई। मुक्तिबोध ने तो और भी आगे बढ़ कर

'समीक्षा की समस्याएँ' में पूछा है—"छायावाद के कवियों को छोड़कर शेष जो 'गौण' कवि थे— जैसे माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान तथा अन्य ऐसे कवि जिनकी अपनी विशेष अभिव्यक्ति-शैली थी—उनके संबंध मे प्रगतिवादियो ने कितनी ग्रन्थ-रचनाएँ की ? यदि वे छायावादी कवियों समेत इन सबके साहित्य का विश्लेषण-मूल्यांकन करते तो उनकी कला-समीक्षा—प्रगतिवादी कला-समीक्षा—क्या उस पूरे युग को समेट न लेती?" इसी विचार-क्रम मे आगे वे लिखते है—"ध्यान में रखने की बात है कि लेखकों से 'कलह' करके, ऐसे लेखको से जिन्हे पूरा-का-पूरा विपक्षी नही कहा जा सकता, जो अभी अपनी विकास-यात्रा पर आगे बढ रहे है, आप अपने उन प्रभावशाली विपक्षियो के हाथ ही मजबूत बना रहे है, जिनका एकमात्र उद्देश्य आपकी विचार-धारा को और आपको पूर्णत: समाप्त कर देना है।" ऐसे मे कभी कोई कला-चिंतन और विचार-प्रणाली अपनी व्यापक भूमिका कैसे रच सकती है ? उन्होने सुझाव देते हुए लिखा है,"आपको स्थिति-परिस्थिति का,सामाजिक-राष्ट्रीय अवस्था का, परिप्रेक्ष्य रखना आवश्यक है ।" विचार या सिद्धांत जब कला या साहित्य के चौखट पर खडे होकर दस्तक देते है तब यह जरूरी नही कि उनके लिए तत्काल विद्यमान कला-व्यवस्था और अनुभव-संस्कार को खारिज करके नये आसन डाल दिये जायें। कला और साहित्य की दुनिया में परम्परा के सस्कारो की जितनी गहरी और झीनी परतें काम करती है उन्हें पहचानना और मानव-पक्ष मे उनके अर्थो की सम्भावना की तलाश करना कला और साहित्य-समीक्षक के लिए हमेशा जरूरी रहा है। जो ऐसा नही कर पाता, वह पिछलो को तो खैर क्या समझेगा अपने समकालीनो की भी समुचित विवेचना और व्याख्या नही कर पाता; जबकि जरूरी है कि हम अपने समय के रचनाकर्म का परीक्षण और मूल्यांकन करते रहें। इस बात पर निरन्तर हमारी निगाह टिकी रहे कि प्रगतिशील और जनवादी कहे जाने वाले साहित्य का कौन-सा हिस्सा 'शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक जनता के हितो को प्रतिबिम्बित' करता है, शोषित जनता के श्रम पर आधारित जो साहित्य हमारे सामने है वह एक खास वक़्त मे उस जनता के लिए कहाँ तक उपयोगी है और हो सकता है।

इसके अलावा यह भी ध्यान रखना होगा कि सभ्यता के अनेक तत्वों की तरह साहित्य मे भी ऐसे तत्व होते है जो विरोधी वर्गों के काम में आते है। इस-लिए साहित्य को केवल कठमुल्ले आग्रहों और कोरे सैद्धान्तिक या फ़ार्मूलाबद्ध नियमों की सीमा मे रगेद कर आश्वस्त होने वाला आलोचक प्रगतिशील साहित्य का मित्र तो नही ही हो सकता। 'परम्परा का मूल्यांकन' पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा की यह स्थापना हम लेखकों को ध्यान में रखनी होगी कि "इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य

की परम्परा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के ज्ञान से समाज मे व्यापक परिवर्तन किये जा सकते हैं और नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। प्रगतिशील आलोचना के ज्ञान से साहित्य की धारा मोडी जा सकती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद कुछ अमूर्त सिद्धान्तो का सग्रह नही है, वह मानव-समाज के इतिहास का मूर्तज्ञान है। वैसे ही प्रगतिशील आलोचना किन्ही अमूर्त सिद्धातो का सकलन नही है, वह साहित्य की परम्परा का मूर्तज्ञान है। और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परपरा।" किन्तु इसी के साथ यह जान लेना भी जरूरी है कि साहित्य विचारधारा मात्र नही है। उसमे मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसकी भावनाएँ, आत-रिक प्रेरणाएँ भी व्यजित होती है। इसीलिए यह कहना पडता है कि समाजवादी व्यवस्था के कायम हो जाने पर भी जातीय अस्मिता खडित होने की बजाय अधिक पुष्ट होती है और कोई भी समाजवादी सस्कृति पुरानी सस्कृति से नाता नही तोडती, वरन वह उसे आत्मसात करती हुई आगे बढती रहती है।

डॉ० शर्मा के इन विचारो के आलोक मे अब यह बात फिर से दुहरायी जा जा सकती है कि हमारे आन्दोलन की शुरुआत के दिनो मे जो प्रबल राजनीतिक उफान आया था, वह जब धीरे-धीरे कम होने लगा तब कवियो का एक और वर्ग सामने आया जो 'तार-सप्तक' की रगीन गहमा-गहमी और साहित्यिक चमचख से बाहर तो था ही, अपने महान पूर्ववर्ती छायावादियो की चौध से भी काफी-कुछ मुक्त था। केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन, रागेय राघव जैसे लोग अपनी राह खुद बना रहे थे। अगर रागेय राघव को थोडी देर के लिए छोड़ दें तो यह कहने की सुविधा मे हम आ जाते है कि हमारी प्रगतिशील कविता का प्रधान प्रेरणा-स्रोत मजदूर न होकर, किसान था। कल-कारखानो और उद्योग-नगरो की बस्तियां न होकर खेत-खलिहान और बाग-बजर थे। प्रेमचन्द गद्य मे यह काम कर ही रहे थे। इसलिए केदार, त्रिलोचन और नागार्जुन से प्रस्रवित होने वाली कविता ग्रामीण परिवेश मे जन्म लेने वाले, ग्रामीण सस्कारो मे पले-बढे कवियो की कविताएँ थी जिनमे गाँव सिर्फ एक विषयमात्र नही, हमारे जीवत अनुभवो की एक ऐसी आत्मीय बिरादरी थी जिसे कविता के शब्दो मे बाँधते हुए हमारे कवि न तो आन्दोलनी उफानो से परिचालित थे, न ही कोरे सैद्धान्तिक दबावो के वशीभूत ही। ये तीनो ही कवि अगर ग्रामीण सचेतनता के थे तो इसी के साथ एक और नाम डॉ० रामविलास शर्मा का भी जोडा जा सकता है। यह वह समय था जब भार-तीय अर्थव्यवस्था के केन्द्र मे कृषि-उत्पादन था (सो तो अब भी है) और हमारे ये कवि उसी जीवन-शैली की गोद मे पले और बढे थे। फलत. प्रेमचन्द की तरह इनकी कविता मे ग्रामीण नेह-छोह, दुख-दर्द, अभाव-मजबूरी, अज्ञान-अशिक्षा, वर्णगत कट्टरता और ऊँच-नीच के भावो के साथ लोक-प्रकृति, रीति-रिवाज, तीज-

त्योहार भी आये। किन्तु जो सबसे बडी बात इस कविता के जरिए आयी वह थी मानव-उद्यम, संघर्ष-चेतना और अपराजेयता का भाव। ऐसा नही कि यह भाव हमें ऐतिहासिक भौतिकवाद से मिला। ये वृत्तियाँ तो हमारी परम्परा मे पहले से ही थी। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने हमे विशेष तौर पर उस ओर ध्यानांतरित करना शुरू किया। हमारी सोच मे यह परिवर्तन घटित हुआ कि यह जो व्यवस्था है वह मनुष्यकृत है और समय-समय पर बदलती और बदली जाती रही है। अतः हमारे सामाजिक और कलात्मक प्रयास इस बदलाव के माध्यम बनें। गँवई जीवन की जपाट सामाजिकता और नगरीय जीवन की अतिमहत्वाकांक्षी, सुविधाखोजी सघर्षविमुखता के ख़िलाफ स्वभावतः हमारे इस लेखन को खड़ा होना था। और उसी जागरूक मध्य वर्ग को इसकी अगुवाई करनी थी जिसका एक तबका आजादी के सघर्ष के उजाले में भी रो-कलप रहा था। सुखद आश्चर्य तो यह है कि उसी के बीच से मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भवानीप्रसाद मिश्र, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय जैसे लोग भी आ रहे थे। जनता के प्रति समर्पित, लोकजीवन के सुखदायी भविष्य का सपना देखने वाले इन कवियो की कविताओ मे दृढ सामाजिक आस्था और उल्लास का भाव तरगित था। कभी-कभी निराशा और क्षोभ के क्षण भी है, किन्तु मूलभूत तौर पर ये सब जनसमर्पित, स्वाधीनताकामी, लोक-जीवन के कवि थे जिन्होने यह मान लिया था कि कविता स्वय में कोई साध्य नही है, साध्य तो है वह मानव-जीवन जिससे संस्कृति नया स्वरूप ग्रहण करती है और सभ्यता का माथा ऊँचा उठ जाता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता फिर भी रह जाती है कि कवि एक ऐसा संस्कृति-कर्मी होता है जो केवल परम्पराओं के पोषण या संरक्षण का काम नही करता, वरन अन्य समाज-सेवियों, राष्ट्रकर्मियो और विचारको को सूक्ष्म तौर पर आत्मसात करता हुआ उन समस्त मानवीय उपलब्धियो को सृजनात्मक स्थायित्व देता है जो पीछे के इतिहास का जीवंत बोध तो कराती ही है, आगे की संभावनाओं का पता लगाने मे हमारी मदद भी करती है। केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन ही क्यो, सारे शब्दकर्मी जो अपने अनुभवो में मानवहित-चिन्तन मे जुटे हुए है, अपनी कविता को यो ही 'सुरसरि धारा' नही मानते।

कहना सिर्फ़ यह है कि यह मानव-बिरादरी जो प्रगतिशील कविता मे आयी है, वह किस अर्थ मे उस मानवतावाद से भिन्न है जो इसी धरती पर एक मनुष्य को उत्तम श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर देवत्व की सभावनाएँ देखता है तो दूसरे को पशु से अधिक कुछ नही समझता? यह वह मानवतावाद भी नही है जिसका लक्ष्य व्यक्ति-मुक्ति है। प्रगतिशील बिरादरी इन दोनों को ही आलोचना की निगाह से देखती है और उस 'सामाजिक मानवतावाद' का समर्थन करती है जिसकी एकमात्र

प्रतिज्ञा मनुष्य को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण से मुक्त करना है। 'सहज साधना' मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह वक्तव्य गौरतलब है —"सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति-मनुष्य को नही, वल्कि समष्टि-मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरतम की चाह है।" तभी तो मुक्तिवोध जैसे चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं—

"ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अव तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !!

× × ×

वताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड़ गये
करुणा के दृश्यों से हाय ! मुँह मोड गये !!
वन गये पत्थर

वहुत-वहुत ज्यादा लिया
दिया वहुत-वहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम !!

और तय करते हैं—

अव अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोडने होंगे ही मठ और गढ सव

किन्तु 'याद रखो/कभी अकेले मे मुक्ति न मिलती/यदि वह है तो सवके ही साथ है।' इसे हम केवल वर्गाधारित कथन भी नही कह सकते। और कोई भी महान कलाकार केवल चन्द लोगो की पक्षधरता की वात नही करता और रावण, कस या दुर्योधन के विनाश का समर्थन करके न ही वह मनुष्यता के एक तवके की ध्वंस-लीला देखना चाहता है। वस्तुत वह सम्पूर्ण और उन्नत मनुष्यता के विरोध मे उठ खडी होने वाली अन्यायपूर्ण, लोक-विरोधी, व्यक्तिवादी शक्तियो के खिलाफ अपनी शव्द-साधना करता है। अव अगर इसमे व्यापक जन-मगल के लिए कुछ जड़ स्वार्थियो और दुराग्रहियो को क्रान्ति की दहाडती लपटो मे झोक ही देना पडे तो इसे हिंसा नही कहा जा सकता। क्रूर उपचार भले ही हो। किन्तु है यह उपचार ही, 'अधर्म' या हिंसा नही। यह उस मरणोन्मुख सामतवादी ढाँचे का विरोध

है जिसमें मामूली आदमी की श्रम-निष्ठा गायब हो जाती है और उस पूंजी को खोकर वह आदमीपन से भी हाथ धो बैठता है।

यही कारण है कि मनुष्यता के सामने एक अभिनव 'धर्मयुद्ध' अपनी सारी चुनौतियो के साथ खड़ा है। कुछ थोड़े-से चालाक किस्म के लोग शेष सारे लोगो का एक गम्भीर साठ-गाँठ के तहत नियोजित शोषण कर रहे है। आदमी-आदमी के बीच की दीवार घटने और नीची होने के बजाय और ऊँची हो रही है। विख्यात पत्रकार श्री कुलदीप नैयर ने अपने एक ताजे लेख मे आजादी के बाद के भारतीय समाज पर चिन्ता प्रकट करते हुए लिखा है, "स्वतंत्रता के 35 वर्ष बाद कोई भी विचारवान व्यक्ति यही सोच सकता है कि राष्ट्र किसी गम्भीर भूल का शिकार बन रहा है। आज प्रत्येक ही अपने बारे मे ही सोचता है और स्वाधीनता संग्राम और आजादी के पहले वर्षों के दिनो जैसा आदर्शवाद और निष्ठा की भावना इने-गिने लोगों मे ही रह गयी है। जो लोग समृद्ध है, उनके हृदय निर्धनता से किंचित मात्र भी द्रवित होते हुए नही लगते। जब कोई धनी व्यक्ति किसी शाम एक रेस्तराँ मे कई निर्धन परिवारों की एक वर्ष की आय के बराबर धनराशि खर्च कर देता है तो क्रोध के उभार की बात तो दूर रही, यह भावना तक पास नही फटकती कि ऐसे हालात क्यो पैदा हो रहे हैं।" ऐसे ही उदासीन समाज के समृद्ध लोगो को चेतावनी देते हुए लेखक ने अपने लेख के अन्त में लिखा है—"ये समृद्ध लोग एक ऐसे द्वीप मे रह रहे है कि जो भूख, रोग और बेरोजगारी से घिरा हुआ है। तट पर लहरो के थपेड़े अपना रौद्र रूप दर्शाने लगे है और वे लोग प्रतिरोधी तट-बन्धों के निर्माण हेतु पुलिस और अर्धसैनिक बलों का प्रयोग कर रहे है। वे कितनी देर तक सागर के प्रबल प्रभंजन को रोक पायेंगे?" हमारा जनवादी लेखन इसी गम्भीर और चिन्ताजनक परिवेश को लेकर फिकरमद है। इसी यथार्थ के ढेरो कुत्सित और घृण्य चेहरे यहाँ छापे गये है। अब कोई कहे कि कविता तो अलंकृत और रमणीय पदावली है, ठेठ जिन्दगी का माहौल यहाँ क्यों आना चाहिए, तब उसे बताना ही होगा कि कला का भी एक लोकधर्म होता है—उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता। जब यह प्रतिबद्धता कसौटी पर चढती है तब काव्य और कला क्या, संस्कृतियो के आदर्श और पैमाने तक बदल जाते है। कला और साहित्य की दुनिया पर सामाजिकता का यह दबाव हमेशा रहा है और इसी के चलते कलाएँ अपना परिवर्तित आकार और स्वरूप ग्रहण करने को विवश हुई है। यह हमारे समय का दबाव है कि आज विश्व-साहित्य का तीन-चौथाई हिस्सा सर्वहाराओ के मुक्ति-संघर्ष मे भागीदारी करता हुआ उनके हितचिन्तन मे लगा हुआ है। यही वह विश्व-मानवतावाद है जो इस जनवादी कविता की रीढ़ कहा जा सकता है। एक ओर किसान-मजदूर हैं तो दूसरी ओर निम्नमध्य वर्ग और बीच मे वह पढा-लिखा, खाता-पीता संघर्षरत सवेदनशील मध्यवर्ग जो फ़िलहाल

वैचारिक लडाई की अगुवाई कर रहा है। इसी वर्ग से हमारा वह साहित्य चलकर आ रहा है जिसे हम जनता का साहित्य कहते है। पर मुसीबतें अभी काफी है और हमारे लेखको को अभी भी अपने मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय संस्कारो से नोक-झोक करनी पड रही है। एक ही कलम से दुहरी लडाइयाँ लडनी पड रही है। श्रेष्ठ काव्य बनाम जनोन्मुख काव्य की जुगलबन्दी नागार्जुन और केदार-त्रिलोचन जैसे कवि पेश कर पा रहे है किन्तु शमशेर, मुक्तिबोध जैसे कवि जनता के लिए न लिखकर 'जनता का साहित्य' लिख रहे है जो उसके जीवन-मूल्यो और जीवनादर्शों की स्थापना करता हुआ उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे रहा है। यह मुक्ति जितनी दूर तक राजनीतिक है, उससे कही अधिक गहरे अर्थों मे सास्कृतिक है, क्योकि अज्ञान और अबोध को अगर मुक्ति दे भी दी जाये तो हाल वही होगा जो उन मछलियो का हुआ था जिन्हे स्वतत्र करने के खयाल से तालाब को काट कर नदी से जोड तो दिया गया था किन्तु गुलाम मछलियाँ अज्ञानता के मारे, मिली हुई स्वतत्रता का उपभोग नही कर पा रही थी। आज हमारे इन कवियो के सामने यह समस्या है कि अल्प-साक्षर और ज्यादातर निरक्षर जनता को उसी के लिए लिखे हुए शब्दो के मर्म तक कैसे पहुँचाया जाये ? अज्ञान और अधविश्वास मे पडी हुई जनता के लिए उन सीधी-सादी, ठेठ कविताओ की भी जरूरत है जो उसे प्रशिक्षित कर प्रारम्भिक तौर पर सचेत और मुस्तैद करे और उन कविताओं की भी जो उसके आगामी विकास की रूपरेखा भी लिये हुए हो। हमारी कविता और कलाएँ जब तक इस दुहरी भूमिका का निर्वाह नही करेगी, कविता का शुद्ध धर्म सम्पादित न होगा। मुझे यह लिखते हुए सन्तोप है कि हमारे कवि यह काम कर पा रहे है और ऐतिहासिक तौर पर वे अपनी भूमिका मे सफल है। उनकी कविता मे जितना यथार्थ चित्रण है उतना ही शिक्षा-बोध भी, जितना शिक्षा-बोध है उतना ही भविष्य-दर्शन भी। इस अर्थ मे यह कविता पिछली कविताओ से कही अधिक जिम्मेदार और मानवीय है, क्योकि इसकी मूल चिन्ता आज की यातनाग्रस्त मनुष्यता है।

बीच-बीच मे यह सवाल भी खडा कर दिया जाता है कि अपने को प्रगतिशील कहने वाली कविता क्या कलात्मक भी है ? रूप और अन्तर्वस्तु के गम्भीर अकादमिक विवेचन भी इसीलिए यहाँ कम नही हुए है और जब-जब हमारी यह कविता मुखर होकर उस जनता के बीच अपनी साख जमाने लगती है, एक आवाज आती है कि यह श्रेष्ठ कला नही है, क्योकि यह खुली और प्रकट है, सीधी और प्रत्यक्ष है, सादी और सरल है। जैसे ये कला के गुण ही न हो। कला का स्वभाव मानव-स्वभाव और जीवन-प्रक्रिया से किसी भी अर्थ मे अलग नही होता। वह उतनी ही सरल और गूढ—आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार—हो सकती है जितना कि मानव-स्वभाव हो सकता है। वज्र की तरह कठोर, कुसुम

से भी अधिक कोमल, धरती जैसा विस्तार और आकाश जैसी अनन्तता वह धारण कर सकती है। वह घोंघा-धर्मी क्यो हो ? चन्द सामंत दिमागों और चतुर किन्तु बिके हुए सत्तापरायण बुद्धिजीवियों की अनुगता क्यों हो, उन्हें अपने मॉडल के रूप मे क्यो स्वीकारे, जिन गालियो और उधार के मुहावरों से वे अपनी आधुनिकता बताते है, उन्हे अपने काव्य मे प्रवेश क्यो दे ? कला में विविधता, उन्मुक्तता, विचार-सजगता के साथ-साथ मार्मिक शब्द-सिद्धि जरूरी है और इसका स्रोत आलोचना की किताबें या गयी-गुज़री अनुभूतियां नही हो सकतीं। वह जन-जीवन होता है जिसे अपने और कवि के बीच मे किसी की कोई भी मध्यस्थता स्वीकार नही। यह तभी सम्भव है जब हमारे कवि सीधे जनता से जुडकर इस ओर आये। वे कवि है, किन्तु इस लगाव के बिना अधूरे (और कभी-कभी अप्रामाणिक) साबित होगे। उनमे कालिदास जैसी लोक-सपृक्ति, कबीर जैसा वैचारिक साहस, तुलसी जैसी लोक-परायणता, सूर और मीरा की-सी तन्मयता, घनानद की-सी बेचैनी और तडप तथा छायावादियो का-सा सस्कारित विद्रोह और उदार मानववाद हो। और स्वय अर्जित संघर्ष चेतना जो उन्हे हमारे समय का कवि प्रमाणित करेगी। मामूली कवि नकल करता है, विशिष्ट कवि हमारे आस्वाद में बदलाव लाता है, किन्तु महान कविता हमे नयी जीवन-दृष्टि से सम्पन्न करती है। प्रगतिशील और जनवादी या यथार्थवादी कविताएँ जीवन-दृष्टि के इसी बदलाव की सूचना देती हुई हमारे आगे खडी है। इनमे भाषा की चिकनी-चुपड़ी आकृतियां, सुगन्धित भाव-विहार और समाधिलीन कर देने वाली रमणीयता तो खैर नहीं ही है, अनुभूतिगत विलक्षणता और बहुप्रचारित किन्तु तथाकथित आधुनिकता भी नही है। इनमें अपने आस-पास के समाज और दुनिया की वे घटनाएँ और प्रसंग है जिन्हें छूकर पिछले कल की कविता शायद जाति-बहिष्कृत हो जाती। भावनाओ का इतना सामान्य किन्तु विशाल दायरा, अनुभवो की सघन देशजता और विचारो की स्पष्टता और प्रखरता इस कविता के वे गुण है जिनकी तुलना उस सहृदयता से तो नही ही की जा सकती, जो केवल भव्य-दिव्य, कोमल और उदात्त में रमना जानती है। यह वह कविता है जो मनुष्य की लोकोत्तर करुणा से फूटी है, सामाजिक अन्याय के विरुद्ध क्षोभ और रोष से युक्त है तथा समूह-जीवन के पारस्परिक सहयोग और निर्वाह-भाव के प्रति कृत सकल्प है। यह वही कविता है जो संस्कृति के आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी से निःसृत हुई थी और यह वह कविता है जिसे भारतेन्दु ने सामाजिक जीवन के उत्थान के लिए एक सवाद के रूप मे प्रयुक्त किया था। कविता के निजी प्रयोजनो से अलग उसे लोक की पीडा और संघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप मे प्रयुक्त करते हुए जिस राष्ट्रीय मनोभावना को भारतेन्दु ने जाहिर करना चाहा था, वह काल-क्रम मे और अधिक सजग और निपुण होकर यहाँ उपस्थित है।

कविता मे दर्शन के समावेश से उसका अर्थ-घनत्व कुछ बढ जाता है । कहना चाहिए, अनुभव और विवेक की अपेक्षित भागीदारी से उसकी उम्र दुगुनी हो जाती है। किन्तु किसी खास दर्शन के ऊलजलूल समावेश से, या फिर किसी दार्शनिक काव्य-धारा मे अपना नाम लिखवा लेने से कोई कवि बड़ा नहीं हो जाता। जो लोग कवि और पद्यकार का भेद समझते है, उन्हें यह फर्क बताने की ज़रूरत नही। कवि की दृष्टि उसके जीवनानुभवों से निर्मित छवियो से फूटनी चाहिए—आभा की तरह। न कि वह मेकअप की तरह अलग से दिखे। हमारे ये कवि इस आभा को सही-सलामत रखने में ज्यादातर कामयाब हुए है।

□□□
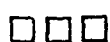
और ये कवि

हिन्दी की जनवादी कविता का यह मानक संकलन तैयार करते हुए मेरे मन मे कई असमंजस थे। कई भय भी। मुझे लगता रहा कि मेरे द्वारा चुने और संकलित ये कवि और उनकी कविताएँ कही हिन्दी कविता की निरन्तर बृहत्तर होती परिधि को सीमाबद्ध न कर दें और पाठक इन्हे ही अन्तिम मान लें। अगले संकलनकर्त्ता अपने इसी रंग के संकलनो मे कुछ और ही कविताएँ चुनें (जिसका कि हक उन्हें है)। तब इन कवियो की कौन-सी तसवीर मान्य होगी? और सबसे बडा भय यह कि कल जब कुछ और नाम इस पंक्ति मे आ खडे होगे, तब उनकी अनुपस्थिति मे यह संकलन कितना अधूरा लगता रहेगा। तब भी इतिहास की जिम्मेदारी और काल की भवितव्यता में से मुझे अपनी जिम्मेदारी ही निभानी थी। यहाँ मैंने वही किया है।

सबसे पहला सवाल तो यही कि ये पाँच ही क्यो? छठा, सातवां या आठवां नाम क्यो नही? बीच मे बाबा नागार्जुन और मेरे प्रकाशक श्री अरविन्द कुमार की यह राय बनी कि इन पाँचो के साथ अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र और हो सके तो रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर को लेकर इसे कुछ और ही रूप दे दिया जाये। वैसा कर भी डालता तो दूसरी बातें और नाम परेशान करते। हाँ, भवानी भाई, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय को मैं इसमे शामिल करने के लिए बार-बार सोचा करता था, और कविवर शील को भी। पर शील जी के पास या तो इस मशरफ़ की सामग्री होने के बावजूद इधर-उधर हो गयी है या फिर वे ही जन-संघर्ष के मोर्चों पर इतने व्यस्त है कि उनको आसानी से पाया और जाना नही जा सकता। शील जी की भावना इतनी कट्टर सिद्धान्तपरक और विचलनहीन है कि उनकी उपलब्ध कविताओ मे वैचारिक उच्छलन ही सर्वोपरि है। भवानी भाई जन-जीवन

और प्रकृति की गतिमयता, उल्लास, आस्था और आत्मविश्वास के कवि है। उनमें एक वैष्णवी तेजस्विता और सहृदयता है; किन्तु वे कई मुद्दो पर हमारे इन कवियो से न केवल अलग-थलग है, वरन् असहमत भी। कहने को तो वे यह भी कहते है कि—

फूल को
बिखरा देने वाली हवा भी
कौन कहता है
कि चलनी नही चाहिए

समूचा जगल
जला देने वाली आग भी
कौन कहता है
कि जलनी नही चाहिए

[अँधेरी कविताएँ]

किन्तु उनकी कविता मे कई अगर-मगर है और अपनी वैचारिक सहिष्णुता को वे काफी तीव्रता से प्यार करते है। तब भी उनकी कविता जन-संघर्षो के लिए अनुपयोगी नही हो जाती। वह भी अपने आस-पास के हिंसक और जनविरोधी वातावरण के ख़िलाफ़ सात्विक तेज और ललकार से भरी हुई है। सतपुडा के घने जंगलो की स्फटिक उन्मुक्तता और निडरता, दिल्ली के धुले-पुंछे राजपथो पर गम्भीर चिंताकुल और रोषपूर्ण हो गयी है। भले ही हमारे इन कवियो से उनका रास्ता अलग हो, किन्तु वे जनता के जीवन-सघर्षो और प्रयत्नो से दूर नही है। उनकी कविता की भाषा किस तरह 'बोली' मे बजती है—इसे बताने की जरूरत नही। वह हमारी अपनी ही अभिव्यक्ति लगती है, हमे जगह-जगह से घेरती और सचेत करती हुई। अहिंसा की तेज़ धार वाली ये कविताएँ कला की ठडी और चमत्कारी मुद्राओ से काफी दूर उस आर्ष क्रोध की भगिमा लिये हुए हैं, जिनसे राजधानियाँ थरथराती है और मामूली आदमी नया आत्मविश्वास प्राप्त करता है।

रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर कविता की छन्द-अभिव्यक्ति और मुद्राओं का का प्रतिवाद करते हुए, उसी माहौल के ठीक बीच से अपनी राह निकालते हैं, जिसे पश्चिमी कला-जगत के कई ह्रासोन्मुख मुहावरों ने घेर रखा है। इन कवियो की निगाह हमेशा उस आदमी और ज़मीन पर रही है, जो दिनो-दिन गरीब होती जा रही है, भूख, महामारी, साम्प्रदायिक दंगों और अकाल के चपेट मे है।

राजनीति के बहेलिये जिसका नित्य प्रति शिकार कर रहे है और जो हर रोज़ अपनी हैसियत खोता जा रहा है। हमारी तथाकथित गैर-रोमानी आधुनिक (आधुनिकतावादी) कविता के मजमे से बाहर हमारे ये कवि शब्द को एक उपयोगी और सार्थक सामाजिक हथियार के बतौर साध रहे है। किन्तु दुखद है कि इसी शब्द-साधना के दौरान सर्वेश्वर का आकस्मिक निधन हो गया और जिन वर्ग-शत्रुओ और उनकी सेनाओ की पहचान वे कराने मे लगे हुए थे, वह अब युवतर कवि की जिम्मेदारी हो गयी। सर्वेश्वर को कस्बे, गाँव और राजधानी का एकत्र अनुभव था। वे दोनो दिशाओ के आर-पार देख लेते थे। उनके बिम्ब, मुहावरे, उनकी लोक-चेतना और यथार्थ दृष्टि ने काफी महत्तर कार्य किया है, जिसके मूल्याकन का वक्त यह नही है। इन दोनों को भी शामिल कर पाना अगर व्यवहारत सम्भव हो पाता तो कितना अच्छा होता।

इसी क्रम मे दुष्यत कुमार, केदारनाथ सिह, कुमारेन्द्र, पारसनाथ सिह, हरीश भादानी, शलभ श्रीरामसिह, विजेन्द्र, धूमिल, वेणु गोपाल, रमेश रजक, मंगलेश डबराल, पंकजसिह, विनय दुबे, मनमोहन, उदय प्रकाश, राजेश जोशी, अरुण कोमल, नरेन्द्र जैन और अजित चौधरी जैसे कवियो का नामोल्लेख जरूरी है। धूमिल, यात्रा की शुरुआत मे ही सतीश चौबे और सूर्यप्रताप सिह की तरह अचानक चले गये। दुष्यत अपना अधूरा काम ही कर पाये। केदारनाथ सिह, कुमारेन्द्र और शलभ श्रीराम सिह अपनी भूमिका-अदायगी की रफ्तार मे है। इनमे से कौन कितनी तेजी मे है और कौन कितने बहकावो और भावुकताओ मे, इसका लेखा-जोखा करने का न तो यह वक़्त है और न मेरे इस काम की प्रतिज्ञा ही। इतना जरूर कहना होगा कि हिन्दी की जनवादी काव्य-धारा नये सिरे से अपने को सम्बोधित और प्रशिक्षित कर रही है। वह जितना अपने पूर्वजो से ग्रहण कर रही है, उतना ही समकालीनो से भी ले रही है। उसकी दृष्टि न तो धूमिल है, न मंद ही। पिछली पीढियो की तुलना मे वह अधिक जिम्मेदार और कला-अनुरागिनी है। किन्तु उसे यह याद रखना होगा कि जनवादी कला पर पूँजीवादी आधुनिकता के चौतरफा हमले तेजी से जारी है और तमाम प्रकार के प्रलोभन इधर-उधर फैला दिये गये है। सत्ताएँ खुद अपने प्रचार-माध्यमो से कला और सस्कृति का प्रचार-प्रसार निर्धारित और नियोजन करने लगी है। लेखको—कवियो—कलाकारो को प्रोत्साहित करने के नाम पर पालतू बनाये जाने की प्रच्छन्न साज़िशें की जा रही है। कभी-कभी तो इनकी मुद्रा देखते ही बनती है, जब इनकी नीतियो और विचारो के प्रति कोई स्वतंत्र-चेता लेखक अपनी राय जाहिर करता है। जो सरकार कला के नाम पर यह सास्कृतिक तानाशाही पसंद करती हो— उसके मकसदो को ज्यादा भाँपने की जरूरत मेरे खयाल से गैरज़रूरी है। जरूरी है कि हमारा प्रत्येक शब्द उत्कृष्ट

कविता का नमूना हो, किन्तु इससे भी ज्यादा जरूरी यह कि उक्त कविता धराऊँ और प्रदर्शनीय न होकर जीवन-सघर्षो की सहयोगिनी हो। जो कविता अपने इस गुण से हीन होती है, वह न तो लोगों को आकृष्ट ही कर पाती है, न ही उनके दिलो पर अपना आसन ही जमा पाती है। हमारे इन कवियों पर श्रेष्ठ और जरूरी कविता लिखने की गहरी जिम्मेदारी है।

यहाँ संकलित कवि प्रगतिशील जनवादी चेतना के प्रवर्तक कवि है। उनकी कविता एक विशेष उद्देश्य के प्रति समर्पित है और वह उद्देश्य कविता के द्वारा प्रकट की गयी उस पक्षधरता मे निहित है जो सर्वहारा की ऐतिहासिक मुक्ति की आकांक्षी है। इसी अर्थ में वह सामाजिक परिवर्तन की एक कारगर औज़ार है। पर परिवर्तन की माँग करने वाली यह कविता उन्ही छायावादियों के सहयोग से शुरू की गयी जो विद्रोही और स्वच्छन्द तबीयत के लिए ख्यात थे। छायावाद ने ही सबसे पहले स्थापित किन्तु जड़ जीवन-शैलियो के प्रति अस्वीकार की मुद्रा अपनायी और कर्मकांड-प्रधान किन्तु चेतना-शून्य जीवन के ध्वंस का स्वप्न देखा। किन्तु छायावादी चेतना आध्यात्मिक और रहस्यवादी थी। उसकी सहृदयता विशाल थी, तथापि वह भारतीय समाज द्वारा निरन्तर प्रताडित, पीडित और दलित मानवता की त्रासद स्थिति के प्रति चिन्तामग्न थी और उसकी अभेद दृष्टि मे दीन-हीन मानवता के उद्धार के साथ-साथ, महामानवता का महान और युगातरकारी स्वप्न भी शामिल था। परिणामतः वह गांधीवादी स्वप्नो और आदर्शों के अधिक निकट रही।

गांधी युग में ही भगतसिंह आजाद जैसे क्रान्तिकारियो ने जिस क्रान्तिकारी समाजवादी समाज की माँग की वह नैतिक किन्तु यथार्थमूलक था। वे समाज में ठोस परिवर्तन का आग्रह लिये हुए सामने आये। उनके विचारों मे यह सकेत अन्तर्निहित था कि बिना सामाजिक परिवर्तन के राजनीतिक सत्ता के हस्तान्तरण का कोई मतलब नही (और आज इसे साबित करने की ज़रूरत नही रह गयी)। गांधी ने भी दरिद्र हरिजनो के उदय की बात कही। मृत्यु के पूर्व तक उन्ही के उद्धार के स्वप्न मे डूबे रहे, किन्तु जिन लोगो ने सत्ता सम्हाली, वे गांधी की विपरीत दिशा मे चले गये। आजाद हिन्दुस्तान दो टुकड़ो मे बँटा। धर्म और जाति-भावना की कट्टरता ने साम्प्रदायिकता का जहर घोल दिया। उत्पादन के पूँजी-वादी ढाँचे के चलते वितरण असमान हो गया और सारा हिन्दुस्तानी समाज विषमता को समर्पित हो गया। समाज की प्रगतिशील चेतना तो क्या विकसित होती, प्रतिगामी ताकतें ही सगठित और एकजुट होने लगी। मँहगाई, वेरोजगारी, हिसा, लूट-पाट, चोर-बाज़ारी, काला धन, बढती हुई विलासिता, अधिकाधिक दरिद्र हो जाने वाले गरीब और मज़दूर, आम आदमी की सामाजिक हैसियत का लोप, श्रम-अनास्था, भ्रष्टाचार, राजनीतिक गुडागर्दी और सत्ता-सेवन, राष्ट्रीय

दलो का अराष्ट्रीय दृष्टिकोण और जन-विरोधी रवैया आज यह साबित करने के लिए पर्याप्त है कि क्यो मुक्तिबोध, नज़रुल इस्लाम, धूमिल मस्तिष्क-रोगो के शिकार हो गये, क्यो निराला बीच-बीच मे विक्षिप्त होते रहे। इसका कारण ऊपर कथित विवरणो मे खोजा जाना चाहिए। हमारे ये कवि इसी वातावरण मे अपना लेखन-कर्म करते रहे। इस बीच कई आन्दोलन आये-गये। उनकी तूती बोलती रही। कविता कभी कवि के 'अह' की पहचान बनी तो कभी 'बौद्धिकता' की। कभी छद-सगीत को शत्रु-भाव से देखा गया तो कभी विवेकहीन विलक्षणता की सराहना की गयी। कभी परम्परा को निरर्थक और अस्वीकार-योग्य माना गया तो कभी इतिहास-बोध की मनमानी व्याख्या की गयी। तभी पश्चिम के उच्छिष्ट और ह्रासोन्मुख कला-व्यापार को मुकुट की तरह धारण किया गया और एक ऐसी कविता लिखने और लिखवाने का आन्दोलन चलाया गया कि नौबत अ-कविता और अ-कहानी तक आ पहुँची। जिन लोगो ने इस नजारे का प्रत्यक्ष-दर्शन किया है, उन्हे पता है कि यह माहौल किस कदर अन्तर्राष्ट्रीय था कि इसे अपने समाज की बुनियादी इच्छाओ, अनुभूतियो और जरूरतो की कोई ख़बर ही नही थी। सुखद तो यह है कि अब ऐसी साहित्यिक हरकतें शिथिल हो चली है, फिर भी कतिपय सरकारी कला अकादमियो के मार्फत वे समूचे जनोन्मुखी लेखन पर बौद्धिकता और कलात्मकता का रोब-दाब डालने मे लगी है। किन्तु हमारे ये कवि अपनी राह चलते रहे—अविचलित, लक्ष्य-बद्ध और उद्देश्य-समर्पित।

मैं यहाँ इन झगड़ो और विवादो मे उलझना नही चाहता कि ये पार्टी-कवि है या कामरेड-कवि या ये प्रचारात्मक साहित्य लिखते है और इनकी प्रतिबद्धता अत्यन्त सकीर्ण है। मैं अपना कथन यहाँ से शुरू करना चाहता हूँ कि हमारे ये सर्जक प्रथमत. और अन्तत कवि है और इनके सारे कार्य-व्यापार को हमें इसी नज़र से देखना होगा। हो सकता है, कही इनका लेखन पार्टी-उद्देश्यो और कार्य-प्रणालियो का अतिक्रमण करता हो और कही इनका सस्कार (व्यक्ति-वैशिष्ट्य) सहज भाव से किसी और मुद्रा मे आ गया हो। वैसी स्थिति मे समकालीन सामाजिक-राष्ट्रीय वातावरण और उनके दबावो से उत्पन्न होने वाले वे लक्षण इनमे झलक रहे होगे, जो न चाहते हुए भी प्रकट हुए हों। हम यह मानते है कि ये कवि हमारे उन कवियो की तरह गहरे आध्यात्मिक और व्यक्तित्ववादी तो नही हैं, किन्तु भारतीय समाज के ही अश होने के कारण पूरी तरह सामती और रोमानी कला-रुचियो से मुक्त भी नही है। कवि को उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ भी निर्मित करती है और बदले मे वह कवि भी उनमे बदलाव लाने की कोशिश करता है—यह स्वत सिद्ध है। 'एक साहित्यिक की डायरी' और अपनी कविताओं मे मुक्तिबोध की यह आत्मालोचना और आत्मनिंदा देखी जा सकती है। शमशेर भी जब 'मध्यवर्ग' पर खीझते और बरसते हैं, तब उनका अपना अस्तित्व भी

उसमे आलोच्य बनता है। जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह कि हमारे ये कवि इसी पदाथ-जगत (वस्तु-जगत) को अपने काव्य का विषय मानते है और उसे हर सम्भव कोशिश से पुनर्निमित करने का उद्यम करते है। हम यह जानते हैं कि कला-कर्म केवल प्रतिबिम्बन-कर्म नही है। यह ससार कवि या कलाकार को जितनी तरह से प्रभावित और प्रेरित करता है, हमारा कवि भी उतने ही विधि-विधान से उसे नयी शक्लें और उम्मीदें देता चलता है। इसीलिए यह कोई अबूझ या रहस्य-व्यापार नही है। अगर यह प्रातिभ व्यापार है तो भी इसे निगूढ़ और अव्याख्येय नही माना जा सकता। इसके पीछे कवि की अनुभव-समृद्धि, नयी संवेदनशीलता और कला-साधना का बहुत बड़ा योगदान रहता आया है। इसीलिए प्रतिभा का बीज अगर निसर्ग की देन है तो उसे विकसित और अलंकृत करने वाली शक्तियाँ उस वातावरण की देन है, जिनमें प्रतिभा का बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता और लहलहाता है। इसलिए 'प्रतिभा' अध्यवसाय भी है, जिसके लिए भारतीय आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' जैसे ज़रूरी योगों का जिक्र किया है। विल्हेलम लीब्कनेख्त ने मार्क्स के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है, "अत्यधिक ओज और असाधारण कार्यक्षमता के बिना प्रतिभा हो ही नही सकती।" यह ओज और असाधारण कार्यक्षमता आकाश-व्यापार नही, जीवन को घेरकर खडी होने वाली परिस्थितियों और उनके बीच सिर उठाकर खडे होने वाले सर्जनात्मक अनुभवो का ही द्वन्द्व व्यापार है—'जो है, उससे बेहतर चाहिए,' ऐसा मुक्तिबोध कह चुके है।

याद रखना होगा कि इन कवियों की दुनिया एक ऐतिहासिक क्षण की दुनिया है, जो बुरी तरह से कवियो को असंतुष्ट किये हुए है। ये जितना ही इसे प्यार करने की दिशा मे आगे बढ़ते हैं, कटु और भीषण नंगी वास्तविकताएँ, इन्हे उतनी ही तीव्रता से आहत भी करती हैं। और जब इनका कारण ढूँढा जाता है, तब वह व्यवस्था सामने आती है जो समाज और देश का शासन चलाती है। इसी अर्थ मे इन कवियो की कविताएं भी राजनीतिक है। और व्यवस्था-विरोधी भी। लेखक या कलाकार की राजनीति सत्ता-खोजी नेता की राजनीति नही, जनता के जीवन में अपेक्षित परिवर्तन लाने वाली ताकतों (मूल्यों) की राजनीति है। कृष्णा सोबती का यह कहना बिलकुल सही है कि हर अच्छी क़लम मूल्यों के लिए लिखती है। और जब सारे जीवन-मूल्यो की नियामिका राजनीतिक शक्तियाँ हो जायें, तब उनसे निपटने का जो भी उद्यम हो, गैर-राजनीतिक न कहा जायेगा। आज की सारी कला, सारी जीवन-नीति, सारा धर्म इसी एक स्रोत से उत्प्रेरित है। सौन्दर्य-शास्त्र की सातवी अन्तरराष्ट्रीय काग्रेस में माइकेल डफ्रीन (Mikel Dufrenne) ने 'कला और राजनीति' पर अपना परचा पढ़ते हुए रेखांकित किया था कि 'in our time the relationship of art and politics has

become a topical issue and that the politicisation of artistic creation is not infrequeutly attracting the artists themselves.' राजनीतिक ड्रामा, राजनीतिक सिनेमा, राजनीतिक साहित्य आज ही लिखे और किये जा रहे हो, यह भी बात नही। धर्म या राजनीति शुरू से मनुष्य की सवेदना के बड़े भू-भाग रहे हैं और हमारी यह कविता भी इसी भू-भाग पर निवास करती है। क्या मुक्तिबोध का 'ब्रह्मराक्षस' या नागार्जुन का 'प्रेत' (प्रेत का बयान) बिना राजनीतिक समझ के अनुभवगम्य है ? जो कविता अपने सकल्प मे ही समाज-परायण है, वह क्या बिना लोगो के सम्पर्क और लगाव के कभी अपने को सन्तुष्ट कर सकती है ?

क्या ज़रूरत पडती है केदार अग्रवाल और त्रिलोचन को अपने उन जनपदो की याद की ? क्या वे मोहग्रस्त है ? क्या उनकी याद अतीतोन्मुखी और भावुकता-परक है ? या उसके कुछ और भी मुद्दे है ? वे मुद्दे है—बाँदा और सुलतानपुर की गरीबी के। कुसस्कार के। अधविश्वास के। वे मुद्दे हैं जनता द्वारा अपनी शक्ति को न समझने के और पुरानी दुनिया से ही सतुष्ट रहने के। इनकी कविताएँ उस भीतरी छटपटाहट की देन है, जो ऐतिहासिक समझ और आधुनिक चेतना के सयुक्त सोच से पैदा हुई है। यही बात प्रकृति सबंधी कविताओ के बारे मे भी सच है। प्रेमचन्द, रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त और राही मासूम रज़ा या शिवप्रसाद सिंह अगर अपने अचलो की याद करते है तो वह इसी कारण है। और यही लेखक का राष्ट्र-प्रेम है। गाधीवादियो का प्रसिद्ध मुहावरा है, पहले नीड़ को प्यार करो, फिर विश्व या आकाश को। कहने की आवश्यकता नही कि इन कवियों का यह स्मरण किसी भी मायने मे उस स्मरण से कम नही है, जिसकी तारीफ़ करते हुए आचार्य शुक्ल ने 'मेघदूत' के कवि को सबसे भावुक राष्ट्रप्रेमी कहा है। हमारे ये कवि अपनी धरती को न केवल रस्मी तौर पर याद करते है, बल्कि उन्हे वस्तुत. उस जीवन की गहरी पहचान भी है। उनकी कविता इसी पहचान की परिधि को और वृहत्तर करने मे लगी है।

केदार की कविता मे लोकांचलों की चहल-पहल, मस्ती और जुझारूपन की गूँज सबसे पहले सुनायी पडी। जन-जीवन का वस्तुगत विवेचन सबसे पहले उनकी कविताओ मे ही दिखा। 'तारसप्तक' मे यो तो डॉ० रामविलास शर्मा की जनवादी कला के दर्शन होते हैं, किन्तु केदार प्रगतिशील चेतना के अगुआ कवि कहे जा सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपो, व्यापारो और रिश्तो का अकन वे जिस अनुभवी कलम से करते हैं, वह बेजोड़ है। कहने को तो कवि पंत प्रकृति के सुकुमार कवि कहे जाते हैं, किन्तु केदार मे सुकुमारता के बदले एक पुरुपार्थी भोक्ता की स्वच्छ दृष्टि सक्रिय है। धूप, बादल, नदी, सुबह, दिन, रात न जाने कितने रूपो मे उनके यहाँ हैं। प्रकृति के माध्यम से उनकी अभिजात शालीनता भी टूटती है

और वे भरपूर अल्हड़ता, मस्ती, जोश और उमंग के हवाले हो जाते है। केदार की कविताओ मे बुंदेलखंड का जीवन-संगीत, वहाँ का खुलापन, वहाँ के लोगों का दर्प और कठोर आत्मविश्वास सामने आता है। उनकी कविता एक अर्थ मे रोमांटिक भी है, पर यह रोमान छायावादी भी नही है और हालावादी भी नही। यह वह आधुनिक रसिकता है, जिसकी कुछ जडे हमारे जातीय संस्कारों मे भी मौजूद है। पुराने अर्थो मे वे एक भोक्ता कवि है। उनकी कविता का तीसरा बिन्दु उस यथार्थ का चित्रण है, जिसको पढते हुए हमे जुझारू संभावनाओं के संकेत मिलते है और उम्मीद की नयी दिशाएं खुलती हैं। केदार एक बिम्ब-समृद्ध और रूपासक्ति के कवि तो है ही, जीवन और प्रकृति के निरंतर सक्रिय और कर्मठ विचारों के भी कवि है। जो कविताएँ उन्होने समकालीन राजनीति को लक्ष्य करके लिखी है, वे अत्यत सरल और ज़्यादातर सपाट कला का उदाहरण पेश करती हैं। शायद उनकी ये अभिव्यक्तियाँ तात्कालिक जरूरतो के खयाल से की गयी हों। पर यह इस कवि का क्षेत्र नही है—यह कहना ही होगा।

केदार की मूल्यवान उपलब्धियाँ प्रायः उन्ही क्षेत्रो से चलकर आती है, जो छायावादियो के भी अपने क्षेत्र कहे जाते हैं। केदार ने उसी के बीच अपना कोण बदल दिया है। यही कारण है कि उनकी प्रकृति, प्रेमानुभूति और सौन्दर्य-रुचि पर सूक्ष्म वैचारिक दबाव काम कर रहे है, और स्पष्टत: वे एक उदात्त और सौन्दर्य-लीन कवि-मन के उत्पादन न होकर समाज-सजग और दायित्व-प्रेरित कवि की अभिव्यक्तियाँ है। कही-कहीं ये अभिव्यक्तियाँ अधिक सूक्ष्म और कलावादी भी हो गयी है, पर इससे कवि के मकसद आहत नही हुए, बल्कि उस सक्रांति का पता चलता है, जहाँ वह आज खड़ा है।

त्रिलोचन अपनी काव्य-यात्रा की शुरुआत एक सजग और दायित्वपूर्ण रचनाकार के रूप में करते है। उनकी प्रारभिक कविताओं मे उनकी विचार-धारा की अनुगूंज दूर तक सुनायी देती है और कही-कही आलोच्य यथार्थ के प्रति वे एक उत्साही शब्द-योद्धा के रूप मे भी सामने आते है। किन्तु इन्ही कविताओ के भीतर उनकी आधारभूत प्रवृत्ति भी छिपी हुई है, जिससे यह पता चलता है कि त्रिलोचन की कविजन्य भावुकता पर आवेगाकुलता के सस्कार सबसे कम है। दूसरे, वे इतने तटस्थ वस्तुवादी है कि संसार और उसमे घटित समस्त व्यापार को उसके प्रकृत-अदाज में ही पेश करते है। उनकी कविता प्रत्यक्ष दुनिया के बीच जाकर खड़ी है, या प्रत्यक्ष जीवन और सृष्टि-व्यापार ही यहाँ आ गया है, कहा नही जा सकता। केदार छायावादी अलंकृति, आवेगपरकता और भावुकता का इस्तेमाल प्रगतिशीलता के पक्ष मे करते है, बहुत दूर तक यही काम नागार्जुन भी करते देखे जा सकते है, किन्तु त्रिलोचन इससे प्रायः मुक्त है। वे खुद अपने औजारों का निर्माण करते है, यद्यपि उनके इस उद्यम मे पारंपरिक ताक़तो

का योगदान बहुत अधिक है। तुलसी और निराला का उल्लेख त्रिलोचन योही नही करते। जीवन के विभिन्न रूपो और दृश्यो मे से त्रिलोचन की कविता जितना कुछ चुनती और पेश करती है, उसका बहुलांश भारतीय निम्नवर्ग, गरीब और विपन्न अचलो से चलकर आता है। पढे-लिखे, सभ्रात बुद्धिजीवियो, फैशनपरक और पाखडी आधुनिको, दान-दक्षिणा, पुण्य-लाभ देने-लेने वाले सेठो-संन्यासियो का ज़िक्र भी यहाँ है, पर अपेक्षाकृत बहुत कम। उनकी कविता मुख्यत. लोगो की गरीबी और विपन्नता का चित्रण करती है। किन्तु वे जितने भी विपन्न हों, न उनका मनोबल टूटा हुआ है, न ही वे कातर या निराश है। उनकी ज़िन्दादिली, उनकी कर्मठता, लगाव और आशावादिता को देखकर गालिब का यह मिसरा याद आये बिना नही रहता —

'शम्अ हर रग मे जलती है सहर होने तक'

यही यह उल्लेख मुनासिब जान पडता है कि त्रिलोचन जीवन-व्यापारो को सजाने के बजाय उसकी सहज क्रियाओ पर रोशनी डालते है और चीजो को कविता और कविता से बाहर एकमेक और एक-रंग कर देते है। यहाँ उनकी वैचारिकता काफ़ी गहरा गयी है और बिना सजग कोशिश के उसे भाँपा नही जा सकता। किन्तु कवि का अपना पक्ष शब्द-शब्द मे स्पष्ट है। सामंती मूल्यो, पूंजीवादी धारणाओ और कारगुज़ारियो के बीच वे जिस कविता को प्राप्त करते है, वह सर्वहारा समाज के पौरुष और कर्मठता की पहचान कराती है। उसी के प्रेम, उसी के विश्वास और उसी के संघर्ष को सामने लाती है। उनकी कविता मे उसी आदमी की चिंता भी है, किन्तु जो उसे कही से तोडती नही, वरन् संगठित और दिशाबद्ध करती है। इसलिए यह सजावट और शैली के लोप की नही, वस्तु के गांभीर्य के प्रति उनकी समर्पित मुद्रा की कविता है, जिसका वस्तु-व्यापार क्लासिकी रवैये की याद दिलाता है। यही त्रिलोचन की यथार्थपरकता है। कला के परपरागत स्थापत्य उनके लिए अनुभव-सिद्ध माध्यम का काम करते है और इस तरह वे परंपरा के उन सार्थक और स्वीकार-योग्य तत्वो से जुड़ भी जाते है। परपरा उन्हे प्रशिक्षित ही नही करती, रचना के निर्द्वन्द्व आधार भी सौंपती है। वे इसीलिए शिल्प के कल्पक नही, अन्वेषी और संग्रहक कवि हैं और उनका नवनिर्माण उनके वस्तुवादी रवैये मे देखा जाना चाहिए, जहाँ समूची प्रक्रिया कविता के प्रचुर अर्थ-सन्दर्भो और जीवन-व्यापारो को सहेजने मे लगी है। त्रिलोचन की तटस्थता, धीर पद-विन्यास, संयमित सगीत और संतुलित लयकारी को उनकी प्रत्येक कविता मे देखा जा सकता है। वे द्वन्द्व की रेखाओं की इतनी बारीक बुनावट करते है कि उनका खुरदरापन शायद ही कही दिखता हो। पर निगाहवालो से छिपा भी नहीं रहता। त्रिलोचन अपने साथियो मे सबसे कम कलाकार, सबसे कम भावुक, सबसे कम विद्रोही, और सबसे कम प्रगतिवादी हैं तो इसका मतलब सिर्फ यही है कि उन्होने कविता और जीवन के स्थापित और

प्रचलित रिश्तों मे बुनियादी हेर-फेर कर दिया है। शब्द और अर्थ की चमत्कारपूर्ण मैत्री के वदले एक सहज अभिन्नता उपजाने की कोशिश की गयी है जिसे भावुकता-परक सौंदर्यवाद और उदात्तोन्मुखी अभिजातवाद चाह कर भी नही कर पाता, जो सीधे-सादे ढंग से जीवन की सक्रिय गतिविधियो और जमीन की बुनियादी ज़रूरतो से प्रेरित होकर कविता मे चले आते है। त्रिलोचन न तो अर्थ की पुनर्रचना करते है और न ही शब्द की विलक्षण सयोजना ही। उनके यहाँ सब-कुछ सामान्य किन्तु विचारगर्भी है। वहाँ जो कुछ हम देखते है, वही वस्तुत: वहाँ नही है, उसके चारो ओर से धीरे-धीरे उठता हुआ वह संसार है जिसके बारे मे बार-बार, कई-कई कोणो से सोचे जाने की ज़रूरत है। सर्वहारा समाज और जनवादी काव्य का यह रिश्ता कई मायनो मे कला के नये ऐतिहासिक दबावो की ओर हमें उन्मुख करता है और हम कविता के ससार से चलकर उस जीवन में आ जाते है, जहाँ से चलकर वस्तुत. कविता स्वयं आयी थी। त्रिलोचन इस वापसी को अधिक सार्थक, अधिक कारगर तरीक़े से सम्पादित करवाते है। अपनी इस दुनिया में बुरी तरह उलझे रहने के कारण त्रिलोचन शैलियो और रूपो के प्रति कुछ और ही रवैया रखते है। सॉनेट, ग़जल, गीतात्मक छदो, घनाक्षरी और सवैया का स्वीकार अगर उनकी कविता मे है तो यह कवि का सिद्ध कलारूपो के प्रति भावुक लगाव नही, जागरूक संबद्धता है। इन अपेक्षाकृत पुरानी काव्य-शैलियो मे अभी कितनी ताकत और लोकोन्मुखता है, आज बताने की ज़रूरत नही। प्रगतिशील कवि इन्हें स्वीकार कर इनमें अपना योगदान देता है। त्रिलोचन की काव्य-शैलियों को इस निगाह से देखा भी गया है और आगे भी देखे जाने की ज़रूरत है। परंपरा की अविच्छिन्नता और निरंतरता मे कवि की प्रतिभा और आधुनिकता-बोध की क्या भूमिका रहती है, यह भी सोचने का एक मुद्दा यहाँ है।

इधर कुछ उदीयमान साहित्य-विलासी यह दावा करने लगे है कि परंपरा की दुस्साध्य धारा को उनके आकाओं ने ही साधा और साबित किया कि असाध्य-वीणा को वे ही बजाने मे माहिर है। पर परपरा को दिग्भ्रमित और व्यक्ति-मुखी बनाने की सारी जिम्मेदारी भी उन्ही पर है। यह केवल मार्क्स ही नही, निरुक्तकार यास्क का भी मत है कि प्रतिभा या प्रतिष्ठा की पहचान लोक-स्वीकृति के द्वारा ही प्रमाणित होती है। नागार्जुन और मुक्तिबोध या फिर अज्ञेय का सवाल यही विवादास्पद हो उठता है।

सवाल विचारों का परायी जमीनो से उठाने का नही है, जितना कि देशी या राष्ट्रीय स्थितियों के हित मे उनके अनुकूल और उचित प्रयोग और उपयोग का है। चार्वाक का भोगवाद तो यही का है, फिर भी भारतीय समाज उसे वह गौरव क्यो नही दे सका जो बुद्ध की करुणा, महावीर की अहिंसा या फिर भागवतों की सहिष्णुता को प्राप्त हुआ! विचार शुरू से अपौरुषेय इसीलिए कहे गये कि उनकी

धरती तो एक-स्थानीय हो सकती है, किन्तु उनका आकाश सर्वव्यापी होता है। ताओ, कन्फ्यूशियस, गौतम बुद्ध, ईसा मसीह का चिन्तन इसका प्रमाण है। जो दुधमुँहे साहित्यिक सत्ता के टट्टुओ की पीठ पर बैठकर साहित्यिक चिन्ताओ का नियोजन कर रहे हैं, उन्हे भला वह यथार्थवाद कैसे समझ मे आयेगा जो राजधानियो से काफी दूर बस्तर के जंगलो, झाबुआ के भीलो और राँची के सथालों के रक्त मे उबल रहा है! उसी सात्विक उफान की एक ईमानदार स्फीति मुक्तिबोध मे है। नागार्जुन मे वही व्यग्य बनकर फूटता है। अब आप कहे कि कविता का काम तो यह नही है। उसे तो संभ्रात नागरिकों की बँधी-बँधायी रुचियो की तृप्ति करना चाहिए, तो यह कविता आपसे ढेरो सवाल कर सकती है। निराला ने मुक्त छंद के समर्थन मे कहा था—जातीय मुक्ति के साथ कविता की मुक्ति भी होनी चाहिए। तब क्या जो मुक्ति-अन्वेषी कविता है, वह सपूर्ण राष्ट्रीय धारा की उपेक्षा कर चंद कला-रसिको और नव धनाढ्यो के प्रति समर्पित हो जाये? और उस मुक्तिकामी जनता का साथ छोड दे, जिसके बलबूते पर गेहूँ उगता है, मकान बनते है और सचमुच की सस्कृति तैयार होती है? सृष्टि के इस मानवीय व्यापार से सुन्दर तो यह काव्य-व्यापार भी नही है। कविता को उन जड़बद्ध सामती रुचियो की ओर खीचने के बजाय अपने सस्कारो से बाहर आने की ज़रूरत है। हमारे ये कवि अपनी-अपनी जगह इस युद्ध मे भी शरीक हैं। पर यह नही कहा जा सकता कि यह कविता कला-धर्म जानती ही नही, और न इसके पास वैसी प्रतिभाएँ हैं।

अकेले शमशेर की कविता पर ध्यान देने से यह बात साफ हो सकती है। उनकी कला जितनी गूढ और ऐन्द्रजालिक है, उतनी ही सूक्ष्म सहजता भी वहाँ मौजूद है। कई कविताएँ उनकी ऐसी हैं, जहाँ उनका अति-यथार्थवादी और प्रभाववादी दृष्टिकोण भी काम करता है, पर यह उनके काव्य का एक दिलचस्प किंतु सक्षिप्त हिस्सा है। तथापि, जीवन-सौन्दर्य के प्रति उनकी आसक्तियाँ इतनी सघन और आत्मीय हैं कि कोई मुकाबला नही। यहाँ वे एक गोताखोर की तरह है, जो जल-समाधि लगाने मे माहिर है। शमशेर के सन्दर्भ मे मुझे उस रसिकाई की याद आती है जो बिहारी के इस दोहे मे है—

तत्री नाद कवित्त-रस सरस-राग रस रग।
अनबूड़े बूडे, तिरे जे बूडे सब अग॥

कठमुल्ले साहित्यिक युवा तुर्क शायद ही समझ पायें कि यहाँ प्रगतिशीलता कहाँ है? तो कहना होगा कि जीवन-व्यापारो की गतिमयता और समग्रता के बाहर प्रगतिशीलता की खोज करने वालो को कवि की जीवन-दृष्टि की ओर जाना चाहिए। शमशेर नारी और प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम और मैत्री, सख्यता और साहचर्य पर भी लिखते हैं, और आसानी से उन्हे रूपवादी कहा भी जा सकता है,

पर हमें इस अभिधान से कोई परहेज नही है। इससे प्रगतिशील कविता का परिधि-विस्तार ही होता है। और कवि की अपनी निजी-वृत्तियों के सर्जनात्मक पंख भी खुलते हैं। शमशेर की कविताएँ उन लोगो का मुँहतोड़ उत्तर देती हैं, जो यह आरोप लगाते नही थकते कि प्रगतिशीलो की कविता कलाहीन और उधडी हुई कविता है। जिन कविताओ में स्पष्टत. शमशेर राष्ट्रीय जीवन और भारतीय समाज के यथार्थ को अपने आवेगों का विषय बनाते है, वहाँ भी कलात्मक सौन्दर्य विद्यमान है। आखिर यह कलात्मकता है क्या ? कवि के अनुभव का मार्मिक और प्रभावकारी संप्रेषण ही तो ! और जब यह मार्मिकता कवि के समाज, इतिहास और राजनीति के समन्वित बोधो से उपजी हो, तब उस सापेक्ष और संश्लिष्ट अनुभव-सम्पदा को किस कपड़े-गहने और क्रीम-पाउडर की जरूरत रह जाती है ? यह जरूरत तो ज्यादातर उन लोगों को पड़ती रहती है, जिनके पास कहने को बहुत कम या कुछ नही रहता। जब काव्य-स्रोत लबालब भरा हुआ हो और फट पड़ने को आतुर हो तब सिर्फ संतुलन ठीक रखना पड़ता है और शमशेर में यह संतुलन हद दर्जे का है। उनकी कविताओं मे भावो की गंभीर गूँजे और मद्धिम-संगीत की वृत्ताकार तानें है। वे केवल कवि नही, चित्रकार भी है। और दोनो का सहकार यहाँ जगह-जगह मौजूद है। याद रखना होगा कि शमशेर की कविता ही अपनी पडोसी कलाओं को सबसे अधिक पहचानती है। वह उसमे रमती है और उस दुनिया को पुन: अभिव्यक्त कर सम्प्रेपित करती है। इस रूप मे वह अद्वितीय है। सही है कि उनकी कविता मे गर्द-गुबार कम है, और अपने रोमानी मिजाज के चलते वे अधिकाशत: सौन्दर्यवादी है। किन्तु इस कथन से यह साबित नही किया जा सकता कि दूसरी तरफ से उनकी आँखें मुँदी हुई हैं। भूख, अकाल, मजदूर-हडताल, जुलूस और दमन, सरकारी हिंसा, कालाबाजारी और साम्प्रदायिकता के प्रति भी उनके आवेगों का विपुल हिस्सा समर्पित है, और उन पर सोच-विचार करने की जरूरत है। देखना यह होगा कि वह कौन-सा कोण है या नजरिया जिससे शमशेर ने यह सब देखा और चित्रित किया है। और यह भी कि वे आत्मरतिग्रस्त कवि अगर होते या अपना दामन बचाने की कोशिश मे रहते तो शायद ही यह लिखते—

ऐसी आँधी चले...हम भी पूछे—कहाँ,
वो जो ढाते थे जुल्मों-सितम, गुम हुए ??

[बात बोलोगी, पृ० 71]

कविता मे यही आँधी मुक्तिबोध के यहाँ चलती है, जिसमें धूल भी है, तिनके भी, खिसकती हुई चट्टानो की चीखे भी तो लड़खडाती हुई व्यवस्था की झनझनाहट भी। अकारण ही नही कि कुछ वरिष्ठ आलोचकों को मुक्तिबोध की कविता में चिल्लाहट दिखी और कुछ सगोत्री आलोचक उन्हें रहस्यवादी कहने लगे।

मुझे ये दोनो कथन अधूरे लगते है, खास तौर से ऐसे कवि के सन्दर्भ में जो स्वयं ही बार-बार सौन्दर्य के सेंसर्स तोडने की बात करता था, जिसने अभिव्यक्ति और जीवन-व्यवस्था के तमाम गढो और मठो को तोडने का भीष्म-सकल्प लिया था। शमशेर के यहाँ अनपेक्षित वस्तु-ससार के प्रति क्षोभ और रोष है और आकांक्षित ससार का प्रतिनिर्माण भी। मुक्तिबोध उस अनचाहे यथार्थ से दम-भर जूझने का उद्यम प्रदर्शित करते है और उन तमाम 'ब्रह्मराक्षसो' को आदर-भाव देते हैं, जो इसान-विरोधी हालतो मे असमजस के अधीन हो गये हैं। दोनो ही कवि उच्च मानक मूल्यो के आग्रही है, किन्तु दोनो के रास्ते भिन्न है। शमशेर जहाँ प्रेम की मुद्रा मे हैं, वहाँ उनकी अभिजात सजावट देखते ही बनती है। जीवन के अनुभव कल्पना की गाढी चासनी मे डूबे हुए है। मुक्तिबोध के यहाँ जो अनुभव है वह अविश्रांत छटपटाहट और उद्विग्न-चिन्ता मे रूपातरित होता गया है। वहाँ कुछ लोग नही, एक समूची व्यवस्था है—सामतवादी, अर्धपूँजीवादी-अर्धगणतत्रवादी, कुल मिलाकर पाखंडपूर्ण, घिनौनी और तिरस्करणीय। भूल-गलती, चंबल की घाटियाँ, अँधेरे मे जैसी कविताएँ इसी व्यवस्था के विभिन्न रूपो को प्रत्यक्ष करती है। जटिल, उलझनपूर्ण, खूंखार और हिंसक। कवि का विद्रोही स्वर इसी परिवेश मे संघर्ष का सकल्प लेता है। कही प्रत्यक्ष तो कही गुरिल्ला युद्ध करता है। इस संघर्ष का एक अन्तहीन सिलसिला उनकी कविताओ मे मौजूद है। किन्तु इसी सघर्ष मे उनके कोमल और दिव्य सपने भी सुरक्षित है। दोनो मिलकर ही उस कला की बुनियाद तैयार करते है जिसे फैंटेसी कहते हैं। तभी न वह 'अनुभूति की कन्या' कही जायेगी। मुक्तिबोध एक साथ यह सब करते है—लडाई लडते हुए भी उनके स्वप्न कही लडखडाते नही। उनकी दुनिया कही खडित नही हुई, यद्यपि चारो तरफ से घिरी हुई किन्तु कवि हर ओर से उसे ललकारता हुआ। मुक्तिबोध को पढते हुए परपरा की मोटी पहचाने सिरे से गायब दिखती हैं। लगता है, उनके यहाँ कुछ भी ऐसा नही जिसे रक्षणीय समझकर फिलहाल सम्हाला जाये। एकमात्र कोशिश है—नवनिर्माण की, जो तमाम स्थापित मठो और गढो को तोडकर ही सम्भव है। शायद यही कारण है कि उनके यहाँ भोले भावो वाली करुणा भी फुफकारती हुई सामने आती है। अकारण ही नही कि उनकी कविता मे युयुत्सा की खतरनाक गुर्राहटें और आक्रामक चीखें प्रतिध्वनित हैं, पौरुष की ललकार और आत्माधिक्कार के क्षण अनुगुंजित है। परिवेश के षड्यत्रपूर्ण, शोषक और खूंखार स्वरूप का जितना सर्वांग और प्रभावकारी चित्रण मुक्तिबोध मे है, उतना अन्यो मे नही। वे व्यवस्था के क्रान्तिकारी परिवर्तन के पक्ष मे थे। गांधीवादियो की अहिंसा उनके लिए उच्चतम मूल्य भले ही रही हो, पर यह शायद ही बुनियादी परिवर्तन का ज़रिया बन सके। इसीलिए वे उन गुरिल्ला योद्धाओ के ज्यादा क़रीब है, जिनकी रणनीति मे हिंसा एक ज़रूरी

मूल्य है। गोर्की कहा करते थे—साहित्य हमेशा ही पक्ष और विपक्ष में लड़ा जाने वाला एक युद्ध है। मुक्तिबोध यह लड़ाई देश की उस जनता की ओर से लड़ रहे है, जो अभी न तो ठीक से अपने दुश्मनो को समझ सकी है, न ही अपने मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय मानस से उबर पायी है। वे अपनी कविताओ मे उस सिद्धांतवादी, आदर्शवादी मध्यवर्ग को बार-बार संबोधित करते है और उसकी ऐतिहासिक चुनौतियाँ समझाते है, जिससे कि उन्हे काफी उम्मीदे है। वे उन चतुर दुनियादार दिमागो को झकझोर कर रख देते हैं, जो सीमित स्वार्थो के लिए देशव्यापी हितो की उपेक्षा कर रहे है। चिंतन, मनन, आत्मविश्लेषण, फटकार, धिक्कार और शहादतों का एक लम्बा सिलसिला अकृत्रिम रूप से उनकी कविता मे चलता रहता है। शायद उसमे जटिलता और तनाव की अनगिन मुद्राएँ भी है और त्रास भी। पर यह सब उसी लम्बे जीवन-सघर्ष का हिस्सा है जिसमें अंधड़ों की-सी विकट दुर्धर्षता और तूफानो की-सी गति है। हिन्दी कविता का यह महाभारत भाषा की न जाने कितनी मिश्रित टकराहटें, छन्द-संगीत की अनुगूंजे, लयो के उतार-चढाव के साथ-साथ अनुभूति की प्रदीर्घ एकतानता और सम्प्रेपण की अविश्रात गति-मयता लिये हुए है। उनकी एक-एक कविता जीवन के महान युद्ध का एक-एक अध्याय है। उसमे जितना इतिहास है उतना ही अर्थशास्त्र भी, जितना धर्म है उतनी ही राजनीति भी, जितना आत्मविश्लेषण है उतना ही समाज-चिंतन भी। मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया उस समाधिस्थ योगी की लम्बी साँस की तरह है, जो न लड़खडाती है, न कही से टूटती है। वह क्रमशः के अभ्यास की अपेक्षित सिद्धि है। उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा असाधारण और अद्वितीय है। वह विलक्षण समी-करणो की ऐसी अपूर्व परिणति है कि प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी, जनवादी और क्रांति-समर्थक वरसो तक उस पर वहस करते रहेगे और मुक्तिबोध की कविताओ मे सबको अपने पक्ष के तर्क भी मिल जायेंगे, पर उनके उद्देश्यों की ईमानदारी फिर भी हीरे की तरह पूर्वग्रह के इन अँधेरो के बीच जन-सघर्ष और मुक्ति की जगमगाहटें फेंकती रहेगी।

कहना न होगा कि उनके पास अतिक्रामक विम्बनिर्माण-क्षमता और विशाल अनुभव-सम्पदा है। उनके विम्बों मे जितनी विविधता है, उतनी ही पारिवारिकता भी। वे जितनी दूर से, भिन्न-भिन्न स्थानो और क्षेत्रों से चलकर आये है, उतने ही आत्मीय सम्बन्धो की विरादरी का एहसास भी कराते है। निश्चय ही मुक्ति-बोध अपने ढग के अकेले कवि है, जिन्हें हिन्दुस्तान की ग़रीब और मजदूर जनता की ऐतिहासिक मुक्ति की चिन्ता थी और जिनके जीवन का एक-एक पल इसी चिन्ता से जूझते और उपाय खोजते बीता था। उनकी कविता इसी चिन्ता और उपाय का एक लम्बा सिलसिला है।

नागार्जुन अपने जीवन में जितने स्वच्छन्द और मनमौजी है, कविता मे भी

उतने ही उन्मुक्त और स्वाधीन। प्रारम्भ में वे क्लासिक रूपो और शैलियो के प्रति तीव्र रूप से मुग्ध दिखते है; किन्तु क्रमश: वे अपनी छवि एक प्रखर जनवादी कवि के रूप मे निर्मित करते हैं। पर यह सारा कथन अधूरा और एकांगी इसलिए है कि उनकी कविता मे कही भी ठहराव और वन्धन नही है। उनकी सधुक्कडी वृत्ति, घुमन्तू तबीयत, उनका कामरेडपन, उनकी गँवई आदतें, मस्ती और फक्कड़ता, वेबाकी, उनका गुरु-गम्भीर किन्तु गुप्त पांडित्य, उनकी वहु-भाषाविज्ञता और वहुमुखी प्रतिभा, उनका विस्तृत अनुभव, सबसे ऊपर उनकी आवेगलीन भावुकता उन्हे किसी मुहावरे मे वाँधने नही देती। साथ ही वे वहुत सजग कवि और चतुर शिल्पी हैं। उन्हे अपने माध्यमों पर पूरा अधिकार है। पुराने और नये छन्दो, देशी और परदेशी संगीत की प्रामाणिक जानकारी है। गाँव और नगर-जीवन, शास्त्र और लोक रीतियो की पहचान है। वे भीपण संगीत-प्रेमी और पराक्रमी छन्द-सृष्टा हैं, किन्तु गद्य की वुनियादो पर खड़े होकर मुक्त काव्य-रचना का सामर्थ्य भी उनमे अद्‌भुत है। मुक्तिबोध सारी दुनिया को अपने भीतर समेटकर एकजुट हो एक जन-विरोधी व्यवस्था से भिड़ रहे थे। नागार्जुन की यह भिडन्त व्यंग्य-कविताओ मे देखी जा सकती है। उनके व्यंग्य मे आलोचना, उपहास, फब्ती और आक्रमण के मिले-जुले तेवर हैं। कही-कही वे सीधे प्रहार और कवीर वाले गाली-गलौज के अन्दाज़ मे भी उतरते है। पर यही उनकी कविता की सबसे बडी ताकत नही है। हाँ, उनकी रचनाशीलता की एक अच्छी-खासी पहचान अवश्य है। उनकी कविता इसलिए ज्यादा याद की जायेगी कि उसमे आम आदमी का प्रेम, आम आदमी का गुस्सा, उसका जीवन-सघर्ष, मज़ा-मौज— सब वहाँ पहली वार प्रामाणिक तौर पर मौजूद है। सामान्य और मामूली आदमी को वे जितने करीब से जानते हैं, उतना शायद ही कोई अन्य कवि जानता हो। इस मायने मे उनकी सवेदना का परिदृश्य वहुत विस्तृत है। अपने इस सारे अनुभव-लोक को वे जिस आत्मीय ऊर्जा के सहारे गूँथते-रँगते और वाँधते है, वह सर्जित काव्य-चरित्रो को उनकी जन-सघर्पी कला का अभिन्न हिस्सा वना देती है।

कहना होगा — नागार्जुन जितने जवरदस्त भोक्ता हैं, उतने ही वड़े सर्जक भी। उनकी मौलिकता और ताज़गी का अदाज़ उनके कथनो मे खोजा जाना चाहिए। शैलियाँ तो उनके कथनो के प्रति अनन्य भाव ये समर्पित है। कहा जाता है कि नागार्जुन की अधिकाश कविताएँ अखवारी हैं और उनका एक मात्र मकसद प्रचारात्मक है। इसका कोई जवाव ज़रूरी नही। कविता कभी नारा वनती है, कभी झडा, कभी वैनर। पर नागार्जुन के यहाँ वह प्रसन्न और सुदृढ कलाकर्म भी है, जिसका स्थापत्य क्लासिको से टक्कर ले सकता है। पर यह ही क्यों? इस कवि ने उन लोगो को वाणी दी है, जो रोज़ी-रोटी की लड़ाई मे वुरी तरह फँसे हुए हैं। विधवा, विज्ञापन-सुन्दरी, मधुक्षरा, जया, रिक्शा-ठेला मज़दूर, चटकल-

श्रमिक, जूट-कारख़ाने के कर्मचारी, ड्रायवर, चपरासी, प्राइमरी स्कूल-मास्टर, खोमचा लगाने वाले—कौन नही है यहाँ और वह खेत-मजदूर भी। सारी सर्वहारा आबादी प्रत्यक्ष तौर पर तो यहाँ है। नागार्जुन उस जीवन को भरोसा और बल प्रदान करने वाले गरीब-दुखी जनता के सघर्षो के प्रवक्ता कवि हैं। उनकी कविता में उन राजनेताओं का जिक्र भी खूब है, जिनके कारण बंटाधार हो रहा है। स्वार्थी-शोषक पूँजीपति तथा बिके हुए, आत्मग्रस्त और कैरियरिस्ट बुद्धजीवी तो खैर वहाँ हैं ही। वे मजदूरो और गरीब निम्नमध्यवर्ग के नेता, और जनान्दोलनो से गहन सम्पर्क रखने वाले कवि है। सामाजिक कार्यकर्ता और कवि की दुहरी भूमिका का निर्वाह करते हुए भी उनकी कविता हिम्मत नही हारती। जो वर्ग उनकी चिंता का कारण है, वही उनके रचनात्मक आवेग का जन्मदाता भी। मुक्तिबोध की तरह नागार्जुन भी आवेगमूलक कवि है, पर उनका आवेग जटिल विश्लेषणो मे प्रवृत्त नही होता। मुक्तिबोध की कविताएँ सोच की अव्याहत प्रक्रिया के दौरान रची गयी है। तभी उनमें एक अंतहीन सिलसिला बना रहता है। नागार्जुन आदि की कविता सोच के लम्बे निष्कर्ष के बाद पैदा होती है। पर नागार्जुन आदि स्थितियो से घिरे होने के बावजूद, उनसे ऊपर उठकर प्रायः बाहर आकर कुछ नये अनुभव-क्षितिजो की यात्रा भी कर लेते है। इसीलिए वे कई-कई रंग और कई-कई रूपो मे हाज़िर हो पाते है। ये सब सम्पूर्ण वर्तमान की बहुविध परिक्रमा करते है और मानव तथा उसके चारों ओर की दुनिया को उसकी विविधता में देख पाते है। मुक्तिबोध को तो एक ही धुन थी और वे अपादमस्तक उसी में डूबे हुए थे। उनकी यही विशेषता उन्हें अपने साथियो में विलक्षण भी साबित करती है। प्रतिभा का दुर्घर्ष आत्मसंघर्ष ही मुक्तिबोध के कवि की एक मात्र परिभाषा है। वे हमारे सच्चे काव्य-योद्धा है जो व्यवस्था ही नही, काव्यानुशासनों और काव्य-मर्यादाओं से भी टक्कर ले रहे हैं और इस मंथन से जो उपलब्धि हो रही है, वही उनकी कविता का सौदर्य-शास्त्र है।

हिन्दी आलोचना में सूर-तुलसी, केशव-बिहारी, बिहारी-देव अथवा प्रसाद-निराला या निराला और पंत जैसी तुलनाएं भी की गयी है और पाठकों के लिए इस प्रकार की तुलना दिलचस्प भी हो उठती है। कभी-कभी कवियो को लेकर पाठक-वर्गो के अलग-अलग सम्प्रदाय भी उठ खड़े होते है। धीरे-धीरे प्रगतिशीलो के बीच भी ऐसी तुलनाएँ होने लगी है—मुक्तिबोध या नागार्जुन। कौन ज्यादा महत्वपूर्ण? निश्चय ही इस प्रकार की साहित्य-चर्चा बहुत स्वस्थ और तटस्थ नही होती और प्रायः साहित्यिक पाठकों और नवोदित आलोचकों को कई सुविधापूर्ण गुंजायशें देती हुई भटका भी देती है। साहित्य की इतिहास-धारा मे हर आन्दोलन का अपना योगदान होता है। जनवादी कविता और कला के भी अपने अवदान हैं। यह साहित्य सच्चे अर्थों में वृहत्तर समाज के मनोभावों, स्वप्नो, संघर्षों

और तकलीफों से जुडा है। ज्यादा बडे और अब तक के उपेक्षित समाज के पक्ष मे अपनी सहृदयता प्रकट कर सका है। इस आधार पर अगर कोई इसे वर्ग-साहित्य कहना चाहे तो हमे कोई आपत्ति नही, क्योकि पहले का साहित्य भी कुछ विशेष वर्गों के चित्रण तक ही सीमित था। और उनकी सामाजिक स्थिति को बरकरार रखने मे सहायक भी था। किन्तु यह साहित्य एक अर्थ मे ज्यादा सवेदनशील और व्यापक है कि इसमे बना-बनाया, सस्कारित सौन्दर्य और सुगधित दिव्यता के बजाय मिट्टी, पानी, बरखा, धूप, खेत-खलिहान, मजदूर-किसान, बाढ-भूख-अकाल के चित्र सर्वोपरि है। यह वह समाज है, जो दुनिया को खूबसूरत बनाने में अपना श्रम लगा रहा है। हिन्दी की जनवादी कविता इसी समाज के आधारभूत मनुष्य के प्रति समर्पित है।

और यह भी कि यह कवियों का फैशनवश किया गया कर्म नही है। यह वही मिशन है जो मार्क्सवादियो के अलावा थोडे-बहुत हेर-फेर के साथ गाधीवादियो और लोहियावादियो मे भी देखा जाता है। यह वह इतिहास-बोध है जिससे मुकरना आत्महत्या के समान है, और जिससे अजनबियत की कोशिश करना निर्माणोन्मुख भारतीय समाज के प्रति गद्दारी है। ध्यान सिर्फ यह रखना होगा कि आखिर इस कला का मूलभूत स्वभाव आनदात्मक है (परपरागत अर्थों मे रसवादी) या नीति-मूलक (शिक्षा-प्रधान) या जागरणमूलक। आनदाभिमुखता कला की आधारभूत जरूरत ही नही, पहचान भी है। अन्य ज्ञानधाराओ से इसका अतर ही इसी सत्य मे निहित है। अत' हमारी यह कविता भी हमारे नवोद्भूत भावो को उद्बुद्ध करके उनसे एकमेक होने को कोशिश करती है। हमे जागरूक और चौकन्ना बनाती है, क्योकि प्रधानत यह कविता आलोचनापरक है। किन्तु यह आलोचना सामाजिक है। यह कविता मानती है कि आक्रमण, आलोचना, विश्लेषण आदि पद्धतियो से यह उस समाज को तोडेगी जो व्यापक मानव-हितो की राह मे सबसे बडी रुकावट है, और उस समाज को प्रबुद्ध करेगी जिसे सामाजिक नवनिर्माण की राह मे हिरावल दस्ते का काम करना है।

इस काम के दौरान परपरा और इतिहास की गहरी छानबीन ही नही, विवेकपूर्ण आदान-प्रदान भी करना होगा। वह ले लेना होगा, जिससे हमने यह सीखा कि क्या बचाया जाने लायक है और कितना त्याज्य है, और बदले मे हमने जो अभिनव-निर्माण किया है, उसे अपना देय मानकर समर्पित कर देना होगा— जिससे परपरा कही टूटे नही। इन कवियो द्वारा प्रयुक्त छदो, बिम्बो, लयो और मुहावरो का जो लोकाधारित संसार है, नये-पुराने शब्दो के अद्भुत दोस्ताने रिश्ते है, भारतीय और पाश्चात्य छद-संगीत की जो रमणीक़ सर्जनाएँ है, वे सब हिन्दी कविता को समृद्ध करती है और आने वाले कवियो को वह आधार देती है, जिस पर खड़े होकर वे प्रतिगामिता और प्रगतिशीलता का रचनात्मक द्वन्द्व देख सकें।

हमारे ये कवि भी अपनी राह चलते हुए इतिहास के कई अँधेरे कक्षो से गुजरे हैं। कई साहित्यिक जय-यात्राओं की आत्मश्लाघा को देखते रहे है, किन्तु अपने पथ से कही भी विरत नही हुए। कालिदास, विद्यापति, तुलसीदास, कबीर, गालिब, हाली, इकबाल, प्रसाद, निराला, फिराक और फैज की साहित्यिक विरासत के ये सच्चे वारिस हैं। इसीलिए इनकी कविता और उसके पीछे काम करने वाली सर्जनात्मकता कहीं भी सम्प्रदायबद्ध और कुद नही होने पायी है। लोक ही इनका विधाता है, प्रेरक भी। उसकी समस्त ऊर्जस्वित परपरा ही इनकी परपरा है। उसका संघर्षपूर्ण इतिहास ही इनका इतिहास है। कहना होगा, इनकी कविता मे लोक की सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा की बहुविध कोशिशे और इच्छाएँ है। इस कविता को पढ़ते हुए ही हम यह समझ सकते है कि कला का आधुनिक धर्म लोक से प्रेरणा और रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण करना ही नही, लोक को सगठित करना और जागरूक बनाना भी है। हमारी ये कविताएँ उसी दायित्व से जुडी हुई हैं।

हम

हम लेखक है,
कथाकार है,
हम जीवन के भाष्यकार है,
हम कवि है जनवादी।
चंद, सूर,
तुलसी, कबीर के
संतों के, हरिचन्द वीर के
हम वंशज बड़भागी।
प्रिय भारत की
परम्परा के,
जीवन की संस्कृति-सत्ता के
हम कर्मठ युगवादी।
हम—श्रष्टा है,
श्रम-शासन के,
मुद मंगल के उत्पादन के
हम दृष्टा हितवादी।
भूत, भविष्यत्,
वर्तमान के,
समता के शाश्वत विधान के
हम हैं मानववादी।
हम कवि हैं जनवादी।

[लोक और आलोक के कवि केदारनाथ अग्रवाल की रचना : 'गुलमेंहदी' पृ० 118]

केदारनाथ अग्रवाल

जन्म-तिथि—1 अप्रैल, 1911
जन्म-स्थान—कमासिन (गाँव), बबेरू (तहसील), जिला बाँदा, उ० प्र०
पिता—श्री हनुमानप्रसाद
माँ—श्रीमती घसिट्टो देवी
पत्नी—श्रीमती पार्वती देवी

प्रारम्भिक शिक्षा—कमासिन गाँव की पाठशाला में '21 तक; कक्षा 3 से कक्षा 6 तक रायबरेली के गवर्नमेंट हाईस्कूल मे; सातवी कक्षा कटनी (म० प्र०) के म्युनिसिपल स्कूल में; आठवी, जबलपुर जून '27 तक। इसी बीच विवाह हुआ। माध्यमिक शिक्षा इलाहाबाद के क्रिश्चियन कॉलेज मे—नवी, दसवी और इंटर-मीडियेट। जुलाई '32 से सन् '35 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० किया 3 वर्ष में। फिर अगले तीन वर्ष कानून की पढ़ाई के सिलसिले मे डी० ए० बी० कॉलेज, कानपुर। नवम्बर '37 तक।

25 फरवरी '38 से वकीली का पेशा शुरू किया इलाहाबाद उच्च न्यायालय से और सन '45 से बाँदा आकर वकालत शुरू की। शेष जीवन यही बीत रहा। 16 मार्च '63 से 6 जुलाई '70 तक सरकारी वकील, फ़ौजदारी के रहे। सरकारी सेवा से निवृत्त होने पर अब तक दीवानी और फ़ौजदारी की वकालत करने में रत।

इलाहाबाद में रहते हुए ही प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्ध बना। वही निराला जी और रामविलास शर्मा से परिचय हुआ। 'हंस' पत्रिका मे बराबर रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। '38 से सीधे प्रगतिशील राजनीति से सम्बद्ध। 1973 में 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार। '74 में रूस की यात्रा। '81 में उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान की ओर से हिन्दी सेवा का पुरस्कार।

प्रकाशित कृतियाँ—'युग की गंगा', मार्च 1947। 'नीद के बादल', अगस्त '47। 'लोक और आलोक', '57। 'फूल नही रंग बोलते है'—अक्तूबर '65। आग का आईना', 70। 'समय-समय पर' (निबन्ध संग्रह),' 70। 'देश-देश की

कविताएँ' (अनुवाद), '70। जनवरी '78 में युग की गंगा, नींद के बादल और गुलमेहदी का सग्रथित संकलन 'गुलमेहदी' नाम से प्रकाशित। 'पंख और पतवार', जनवरी '79। 'विचारबोध' और 'विवेक विवेचन' (दोनों निबन्ध-संग्रह) 1908 और '81 मे। 'हे मेरी तुम' (काव्य), मई '81। 'मार प्यार की थापें', 'मई '81। 'कहें केदार खरी खरी', 1982 मे।

लोकभाषा बुदेलखंडी मे आल्हा की रचना—'बम्बई का रक्त स्नान' 1981 मे पुस्तकाकार प्रकाशित (रचना-वर्ष 1946)। 1946 में ही 'हंस' के अगस्त अंक मे प्रथमतः प्रकाशित।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की योजना 'देव पुरस्कार ग्रन्थावली' के आधुनिक कवि-16—केदारनाथ अग्रवाल, 1978।

रूसी और जर्मन भाषा मे कविताओं का अनुवाद।

चंद्र गहना से लौटती बेर

देख आया चंद्र गहना।
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला।
एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है।
पास ही मिल कर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है, जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो—
हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं,
ब्याह-मंडप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूँ मैं : स्वयंवर हो रहा है,
प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है
इस विजन में,
दूर व्यापारिक नगर से

प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।
और पैरों के तले है एक पोखर,
उठ रही इसमें लहरियाँ,
नील तल में तो उगी है घास भूरी
ले रही वह भी लहरियाँ।
एक चाँदी का बडा-सा गोल खम्भा
आँख को है चकमकाता।
हैं कई पत्थर किनारे
पी रहे चुपचाप पानी,
प्यास जाने कब बुझेगी!
चुप खड़ा बगुला डुबाये टाँग जल में,
देखते ही मीन चंचल
ध्यान-निद्रा त्यागता है,
चट दबा कर चोंच मे
नीचे गले के डालता है।
एक काले माथ वाली चतुर चिडिया
श्वेत पखों के झपाटे मार फौरन
टूट पड़ती है भरे जल के हृदय पर,
एक उजली चटुल मछली
चोंच पीली मे दबा कर
दूर उडती है गगन में!
औ' यही से—
भूमि ऊँची है जहाँ से—
रेल की पटरी गयी है।
ट्रेन का टाइम नही है।
मैं यहाँ स्वच्छन्द हूँ,
जाना नही है।
चित्रकूट की अनगढ चौड़ी
कम ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ
दूर दिशाओं तक फैली है।
बाँझ भूमि पर
इधर-उधर रीवा के पेड़

काँटेदार कुरूप खड़े हैं।
सुन पड़ता है
मीठा-मीठा रस टपकाता
सुग्गे का स्वर
टें टें टें टें;
सुन पड़ता है
वनस्थली का हृदय चीरता,
उठता-गिरता,
सारस का स्वर
टिरटों टिरटों;
मन होता है—
उड़ जाऊँ मैं
पर फैलाये सारस के सँग
जहाँ जुगुल जोड़ी रहती है
हरे खेत में,
सच्ची प्रेम-कहानी सुन लूँ
चुप्पे-चुप्पे।

बुंदेलखंड के आदमी

हट्टे-कट्टे हाडो वाले,
चौड़ी चकली काठी वाले,
थोडी खेती-बाड़ी रक्खे,
केवल खाते-पीते-जीते।
कत्था चूना लौंग सुपारी,
तम्बाकू खा पीक उगलते,
चलते-फिरते, बैठे-ठाढे,
गन्दे यश से धरती रँगते।
गुड़गुड़-गुड़गुड हुक्का पकड़े,
खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते,
फूहड़ बातों की चर्चा के
फ़ौवारे फैलाते जाते।
दीपक की छोटी बाती की,
मन्दी उजियारी के नीचे,
घंटो आल्हा सुनते-सुनते
सो जाते है मुरदा जैसे।

अधकुंभी

छत्ता लगा है
मधु-माखियों का
इलाहाबाद में,
भनभना रही है
    अधकुंभी
भीड़ की भनन-भनन में
रेत में
    उठ आये है ऊपर,
कई-कई रस्ते
सहज और सस्ते
आवागमन के,
गरम है
    मेला
गाँव और शहर की
साँस का,
बाँस के लग्घे
धर्म को थामे खड़े हैं,
जमीन में
    ऐसे गड़े है
आदमी नही
    जैसे यही
सबसे बड़े है,
धूल से भरा
    धुपाया आकाश
बेहद मलिन है,
समय का सूरज
साफ़ नजर नही आता !

देवमूर्ति

छोटी-सी देवमूर्ति
आले में रक्खी थी।
बेचारी औचक ही,
चूहे के धक्के से,
दाँसा के पत्थर पर
नीचे गिर टूट गयी!
ताज्जुब है मुझको तो! —
करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूँद,
भूमि पर न छलकी!!

[युग की गंगा, पृ० 33]

गर्रा नाला

काली मिट्टी, काले बादल का बेटा है
टक्कर पर टक्कर देता, धक्के देता है
रोड़ो से वह बेहारे लोहा लेता है
नंगे, भूखे, काले लोगों का नेता है

आगे, आगे, आगे, आगे सर्राता है
खोए, सोए मैदानों को थर्राता है
आओ, आओ, आओ, आओ अर्राता है
जीतो, जीतो, जीतो, जीतो नर्राता है ।।

[युग की गंगा, पृ० 25]

गुम्मा ईंट

न कच्ची है
न सेवर है
न कोई खोखलापन है
समूची ठोस है, ठस है
बडी पक्की, बड़ी मजबूत हस्ती है।
न यह होती
न टिकने की जगह होती
न बुनियादी सहारा आसरा होता
न बालू और पानी पर
खडा कोई किला होता।
इसी का दम है, बूता है
कि छोटे से बड़ा निर्माण करती है
न आँधी से
न पानी से
न तूफानों से डरती है
बला से, मौत से, आफत से लड़ती है।

गाँव का महाजन

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन,
गौरव के गोवरगनेश-सा मारे आसन,
नारियल-से सिर पर बाँधे धर्म-मुरैठा,
ग्राम-वधूटी की गौरी-गोदी पर बैठा,
नागमुखी पैतृक सम्पत्ति की थैली खोले,
जीभ निकाले, बात बनाता करुणा घोले,
व्याज-स्तुति से बाँट रहा है रुपया-पैसा,
सदियों पहले से होता आया है ऐसा !!

सूड़ लपेटे है कर्जे की ग्रामीणों को,
मुक्ति अभी तक नहीं मिली है इन दीनों को,
इन दीनों के ऋण का रोकड़-कांड बड़ा है,
अब भी किन्तु अछूता शोषण-कांड पड़ा है।

दीन कुनबा

दीन दुखी यह कुनबा
जाड़े की थरथर में कंपता
अपनी चौपारी में बैठा
ताप रहा है कौड़ा !!
लकड़ी कडे सुलग रहे हैं,
आग लगी है;
थोड़ी-थोड़ी लपक उठी है;
धुआँ बढ़ा है,
बाहर नहीं निकल पाता है
सबको घेरे रह जाता है !!

[गुलमेंहदी, पृ० 54]

अहिंसा

मारा गया
        लूमर लठैत
पुलिस की गोली से

किया था उसने कतल
उसे मिली मौत
किया था क़तल पुलिस ने
उसे मिला इनाम

प्रवचन अहिंसा का
हो गया नाकाम।

हाथ न आई

आज भी आई
कल भी आई
रेल बराबर सब दिन आई।
लेकिन दिल्ली से आजादी
अब तक अब तक हाथ न आई,
हाथ न आई !!

चिट्ठी आई
पत्री आई
डाक बराबर सब दिन आई।
लेकिन दिल्ली से आजादी
अब तक अब तक हाथ न आई,
हाथ न आई !!

आफत ही आफत सब आई
लेकिन दिल्ली से आजादी
अब तक अब तक हाथ न आई,
हाथ न आई !!

[कहे केदार खरी खरी]

मज़दूर का जन्म

एक हथौड़े वाला घर में और हुआ !
हाथी-सा बलवान,
जहाजी हाथों वाला और हुआ !
सूरज-सा इंसान,
लरेटी आँखों वाला और हुआ !!
एक हथौड़े वाला घर में और हुआ !

माता रही विचार :
अँधेरा हरने वाला और हुआ !
दादा रहे निहार :
सवेरा करने वाला और हुआ !!
एक हथौड़े वाला घर में और हुआ !

जनता रही पुकार :
सलामत लाने वाला और हुआ !
सुन ले री सरकार !
कयामत ढानेवाला और हुआ !!
एक हथौड़ा घर में और हुआ !

रोटी के पैदा होते ही

रोटी के पैदा होते ही
बुझे नैन में
जुगनू चमके,
और थका दिल
फिर से हुलसा,
जी हाथों में आया,
और होंठ मुसकाये,
घर मेरा
वीरान पड़ा—
आबाद हो गया।

मैंने उसको

मैंने उसको
जब-जब देखा,
लोहा देखा,
लोहा जैसा—
तपते देखा,
गलते देखा,
ढलते देखा,
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा !

अब देखा है

मैने जब देखा था--
        सावन था,
        बादल थे

इससे कम देखा था !
अब तो यह फागुन है,
फूलों में देखा है,
रंगों से, गंधों से
बाँधे तन देखा है :
इससे अब देखा है !

आँखों देखा

आज
अभी आँखों से
पर्वतीय निर्जन के
धुन्ध-भरे घेरे में,
क़ैद खड़े पेड़ों के
मौन पड़े डेरे में,
पातहीन डालों के
आख़िरी किनारों पर
पीत पगे फूलों के
आरसी कपोलों पर
दिन में ही
जगर-मगर
दीप जले देखे हैं।

उदास दिन

यह उदास दिन
पेंसन पाये चपरासी-सा
और जुए में हारे जन-सा
आपे में खोये गदहे-सा,
मौन खडा है।
रवि रोता है
माँ से बिछुड़े हुए पुत्र-सा।
धूप पड़ी है
परित्यक्ता पत्नी-सी कातर।
पाँव कटाये
हवा लढी पर लेटे-लेटे
धीरे-धीरे
अस्पताल की ओर चली है,
सुबुक रही है!
एक टाँग पर खड़े,
देह का भार उठाये,
ऊँचे-ऊँचे पेड़ पुरातन
वनस्थली में तप करते हैं
जटा बढ़ाये।

पक्षी दिन

मौन पक्षी-सा
        बड़ा दिन
नीम पर
        बैठा रहा,
मारने पर भी
बड़ा ढेला
उड़ा पक्षी नहीं;
नीम ने भी तो
नहीं नीचे ढकेला
आह ! —
यह कितना अकेला,
निलज,
नीघस,
आज का दिन !

रात

दिन हिरन-सा चौकडी भरता चला,
धूप की चादर सिमट कर खो गयी,
खेत, घर, वन, गाॅव का
दर्पण किसी ने तोड डाला,
शाम की सोना-चिरैया
नीड़ मे जा सो गयी,
पेड़-पौधे बुझ गये जैसे दिये
केन ने भी जाॅघ अपनी ढाॅक ली,
रात है यह रात, अधी रात,
और कोई कुछ नही बात !

बादल ने मार दी बरछी

बादल ने मार दी
बरछी
        गाँव को,
और फिर चला गया,
लेकिन कुछ हुआ नहीं;
चमकी थी बिजली
सावन की रात में।

माँझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता

माँझी ! न वजाओ बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता
माँझी ! न वजाओ बंशी मेरा प्रन टूटता

मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
तृन का निवास जैसे बन-बन टूटता
माँझी ! न वजाओ बंशी मेरा तन झूमता

मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

छह छोटी कविताएँ

[1]

चली गयी है कोई श्यामा
आँख बचाकर, नदी नहाकर
काँप रहा है अब तक व्याकुल
विकल नील जल।

['फूल नही रग बोलते है']

[2]

इकला चाँद
असंख्यों तारे,
नील गगन के
खुले किवाड़े;
कोई हमको
कहीं पुकारे
हम आयेंगे
बाँह पसारे

['फूल नही रग बोलते है']

[3]

न इश्क
न हुस्न
गये हैं दोनों बाहर
अवमूल्यन में
कर्ज़ चुकाने

['आग का आईना']

[4]

छूट गयी 'वस'
रह गया मैं
पॉव पर खड़ा,
चाकू-सा
खुला दिन
मेरी देह में गडा ।

['पख और पतवार']

[5]

हे मेरी तुम !
पेड
न फूले—
नही हँसे
खड़े हुए है मौन डसे ।

['हे मेरी तुम']

[6]

हे मेरी तुम !
कुछ न हुआ, अव
वूढा हुआ सुआ ।
पखने हुए भुआ ।
देखो,
काल ढुका ;
मन सहमा;
तन काँपा, और झुका ।

['हे मेरी तुम']

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
हम दोनों अब भोग रहे हैं
दीन देह को,
प्यार-प्यार से बाँधें;
ढले-ढले
दिल से ढकेलते
दिन का ठेला;
और रात को
काट रहे हैं
भीतर की लौ साधे

विकट है यह सघन अंधकार का झुरमुट

विकट है यह सघन अधकार का झुरमुट
कि मैं चला आऊँगा फिर भी
तुम्हारी पुकार के वने पथ से
तुमसे मिलने

नदी से कहकर :
कि वह बहे, जहाँ वहती है
दिये से कहकर
कि वह जले, जहाँ जलता है
फूल से कहकर
कि वह खिले, जहाँ खिलता है

छह छोटी कविताएँ

[1]

धोबी गया घाट पर,
राही गया बाट पर,
मै न गया घाट और बाट पर;
बैठा रहा टाट पर,
दोनों हाथ काट कर,
जीता रहा ओस चाट-चाट कर।

[2]

बालक ने
ताल को कँपा दिया
कंकड़ से बालक ने,
ताल को कँपा दिया,
ताल को नहीं
अनन्त काल को कँपा दिया !

[3]

सिर के अंदर
शहर पिट गया है
पेट के अंदर
पुरुष पिट गया है

पाँव हैं
कि पहाड़ के तले दबे हैं
हाथ हैं
कि कैद काट रहे हैं

[4]

हाथ के पेड़
पेट मे डूबे है
न फल है
न फूल
जड़ें उखड़ी है।

[5]

हमने जितनी बार पुकारा
दीवारो पर पाहन मारा
हिला न डोला मौन तुम्हारा
टूटा केवल दुर्ग हमारा

[6]

आग लेने गया है
पेड़ का हाथ आदमी के लिए
टूटी डाल नही टूटी

नागार्जुन के बाँदा आने पर

यह बाँदा है।
सूदख़ोर आढ़त वालों की इस नगरी में,
जहाँ मार, काबर, कछार, मड़ुआ की फ़सलें,
कृषकों के पौरुष से उपजा कन-कन सोना,
लढ़ियों में लद-लद कर आ कर,
बीच हाट में बिक कर कोठों-गोदामों में,
गहरी खोहों में खो जाता है जा-जा कर,
और यहाँ पर
रामपदारथ, रामनिहोरे,
बेनी पंडित, बासुदेव, बल्देव, विधाता,
चन्दन, चतुरी और चतुर्भुज,
गाँवों से आ-आ कर गहने गिरवी रखते,
बढ़े ब्याज के मुँह मे बर-बस बेबस घुसते,
फिर भी घर का ख़र्च नही पूरा कर सकते,
मोटा खाते, फटा पहनते,
लस्टम-पस्टम जैसे-तैसे भरते-खपते,
न्याय यहाँ पर अन्यायों पर विजय न पाता,
सत्य सरल हो कर कोरा असत्य रह जाता,
न्यायालय की ड्योढ़ी पर दब कर मर जाता,
यहाँ हमारे भावी राष्ट्र-विधाता,
युग के बच्चे,
विद्यालय में वाणी विद्या-बुद्धि न पाते,
विज्ञानी बनने से वंचित रह जाते,
केवल मिट्टी में मिल जाते।

यह बाँदा है,
और यहाँ पर मैं रहता हूँ,
जीवन-यापन कठिनाई से ही करता हूँ,
कभी काव्य की कई पंक्तियाँ,
कभी आठ-दस-बीस पंक्तियाँ,
और कभी कविताएँ लिख कर,
प्यासे मन की प्यास बुझा लेता हूँ रस से,
शायद ही आता है कोई मित्र यहाँ पर,
शायद ही आती हैं मेरे पास चिट्ठियाँ।
मेरे कवि-मित्रों ने मुझ पर कृपा न की है,
इसीलिए रहता उदास हूँ, खोया-खोया,
अपने दुख-दर्दों में डूबा,
जन-साधारण की हालत से ऊबा-ऊबा,
बाण-बिधे पक्षी-सा घायल,
जल से निकली हुई मीन-सा, विकल तड़पता,
इसीलिए आतुर रहता हूँ,
कभी-कभी तो कोई आये,
छठे-छमाहे चार-पाँच दिन तो रह जाये,
मेरे साथ बिताये,
काव्य, कला, साहित्य-क्षेत्र की छटा दिखाये,
और मुझे रस से भर जाये, मधुर बनाये,
फिर जाये, जीता मुझको कर जाये।
आख़िर मैं भी तो मनुष्य हूँ,
और मुझे भी कवि-मित्रों का साथ चाहिए,
लालायित रहता हूँ मैं सबसे मिलने को,
श्याम सलिल के श्वेत कमल-सा खिल उठने को।
सच मानो जब यहाँ निराला जी आये थे,
कई साल हो गये, यहाँ कम रह पाये थे,
उन्हे देख कर मुग्ध हुआ था, धन्य हुआ था,
कविताओं का पाठ उन्ही के मुख से सुन कर,
गन्धर्वों को भूल गया था,
तानसेन को भूल गया था,

सूरदास, तुलसी, कबीर को भूल गया था,
ऐसी वाणी थी हिन्दी के महाकृती की ।
तब यह बाँदा काव्य-कला की पुरी बना था,
और साल-पर-साल यहाँ मधुमास रहा था,
बम्बेश्वर के पत्थर भी बन गये हृदय थे,
चूनरिया बन गयी हवा थी, गौने वाली,
यह धरती हो गयी वधू थी फूलों वाली,
और गगन का राजा सूरज दूल्हा बन कर
चूम रहा था प्रिय दुलहन को ।
फिर दिन बीते, मधु-घट रीते,
फिर पहले-सा यह नीरस हो गया नगर था,
फिर पहले-सा मैं चिन्तित था,
फिर मेरा मन भी कुंठित था,
फिर लालायित था मिलने को कवि-मित्रों से,
फिर मैं उनकी बाट जोहता रहा निरन्तर,
जैसे खेतिहर बाट जोहता है बादल की,
जैसे भारत बाट जोहता है सूरज की,
किन्तु न कोई आया,
आने के वादे मित्रों के टूटे,
कई वर्ष फिर बीते,
रंग हुए सब फीके,
और न कोई रही हृदय में आशा ।
तभी बन्धुवर शर्मा आये,
महादेव साहा भी आये,
और निराला-पर्व मनाया हम लोगों ने,
मुशी जी के पुस्तक-घर में ।
एक बार फिर मिला सुअवसर मधु पीने का,
कविता का झरना बन कर झर-झर जीने का,
लगातार घंटों, पहरों तक,
एक साथ साँसें लेने का,
एक साथ दिल की धड़कन से ध्वनि करने का,
ऐसा लगा कि जैसे हम सब,

एक प्राण हैं, एक देह है, एक गीत हैं, एक गूँज हैं
इस विराट फैली धरती के,
और हमी तो वाल्मीकि है, कालिदास है,
तुलसी है, हिन्दी कविता के हरिश्चन्द्र है,
और निराला हमी लोग है।
बन्धु ! आज भी वह दिन मुझको नही भूलता,
उसकी स्मृति अब भी बेले-सी महक रही है,
उस दिन का आनन्द आज भी
कालिदास का छन्द बना मन मोह रहा है,
मुक्त मोर बन श्याम बदरिया भरे हृदय में,
दुपहरिया में, शाम-सबेरे नाच रहा है,
रैन-अँधेरे में चन्दनियाँ बाँह पसारे,
हमको, सबको भेंट रहा है।
सम्भवत: उस दिन मेरा नव-जन्म हुआ था,
सम्भवत उस दिन मुझको कविता ने चूमा,
सम्भवत: उस दिन मैने हिमगिरि को देखा,
गगा के कूलो की मिट्टी मैने पायी,
उस मिट्टी से उगती फसले मैने पायी,
और उसी के कारण अब बाँदा में जीवित रहता हूँ,
और उसी के कारण अब तक कविता की रचना करता हूँ,
और तुम्हारे लिए पसारे बाँह खड़ा हूँ,
आओ साथी, गले लगा लूँ,
तुम्हे, तुम्हारी मिथिला की प्यारी धरती को,
तुममें व्यापे विद्यापति को,
और वहाँ की जनवाणी के छन्द चूम लूँ,
और वहाँ के गढ-पोखर का पानी छू कर नैन जुड़ा लूँ,
और वहाँ के दुखमोचन, मोहन माँझी को मित्र बना लूँ,
और वहाँ के हर चावल को हाथो में ले हृदय लगा लूँ,
और वहाँ की आबहवा से वह सुख पा लूँ
जो गीतो में गाया जा कर कभी न चुकता,
जो नृत्यों मे नाचा जा कर कभी न चुकता,

जो आँखों में आँजा जा कर कभी न जलता,
जो रोटी में खाया जा कर कभी न कमता,
जो गोली से मारा जा कर कभी न मरता,
जो दिन-दूना रात चौगुना व्यापक बनता,
और वहाँ नदियों में बहता,
नावों को ले आगे बढ़ता,
और वहाँ फूलों में खिलता,
बागों को सौरभ से भरता।

अहोभाग्य है जो तुम आये मुझसे मिलने,
इस बाँदा में चार रोज के लिए ठहरने,
अहोभाग्य है मेरा, मेरे घर वालों का,
जिनको तुम स्वागत से हँसते देख रहे हो।
अहोभाग्य है इस जीवन के इन कूलों का,
जिनको तुम अपनी कविता से सींच रहे हो।
अहोभाग्य है हम दोनों का,
जिनको आजीवन जीना है काव्य-क्षेत्र मे।
अहोभाग्य है हम दोनों का,
जिनको आजीवन जीना है काव्य-क्षेत्र में।
अहोभाग्य है हम दोनों की इन आँखों का,
जिनमें अनबुझ ज्योति जगी है अपने युग की।
अहोभाग्य है दो जन-कवियों के हृदयों का
जिनकी धड़कन गरज रही है घन-गर्जन-सी।
अहोभाग्य है कठिनाई में पड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति का,
जिसका साहस-शौर्य न घटता।
अहोभाग्य है स्वयं उगे इन सब पेड़ों का,
जिनके द्रुम-दल झरते, फिर-फिर नये निकलते।
अहोभाग्य है हर छोटी चंचल चिड़िया का,
जिसका नीड़ बिगड़ते-बनते देर न लगती।
अहोभाग्य है बम्बेश्वर की चौड़ी-चकली चट्टानों का,

जिनको तुमने प्यार किया है, सहलाया है।
अहोभाग्य है केन नदी के इस पानी का,
जिसकी धारा बनी तुम्हारे स्वर की धारा।
अहोभाग्य है बाँदा की इस कठिन भूमि का,
जिसको तुमने चरण छुला कर जिला दिया है।

नागार्जुन

नाम—वैद्यनाथ मिश्र
जन्म—1911 मई, ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा
पिता—श्री गोकुल मिश्र,
जन्म-स्थान—गाँव तरउनी (मधुबनी क्षेत्र), जिला दरभगा
मां—श्रीमती उमादेवी
पत्नी—अपराजिता देवी।

बचपन मे ही माँ की मृत्यु। पालन-पोषण पिता और चाची के द्वारा। **प्रारंभिक-शिक्षा**— गाँव की पाठशाला मे। संस्कृत विद्यालय गनौली से व्याकरण मध्यमा करने के बाद चार साल काशी रहे, शास्त्री परीक्षा के लिए। कलकत्ता से साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की—पालि प्राकृत का विशेष अध्ययन।

1932 मे विवाह और '34 मे गौना; इसी साल बिहार मे जबरदस्त भूकम्प।

1934 मे जैन-मुनियों को संस्कृत और प्राकृत अध्यापन के लिए काठियावाड (गुजरात) गये। वही गुजराती सीखी। जलवायु अनुकूल न पड़ने से '35 मे हैदरा-बाद (सिन्ध-पाकिस्तान) गये, स्वामी केशवानन्द के साथ मठ मे प्राचीन भारतीय भाषाओं का अध्यापन किया। यही से श्रीलका के लिए '36 मे प्रस्थान। वहाँ विद्यालंकार परिवेण मे भिक्षुओं का अध्यापन करते हुए बौद्ध-भिक्षु हो गये। '38 मे बिहार सरकार की ओर से तिब्बत जाने वाले अनुसधानकर्ताओ के प्रतिनिधि-मंडल के साथ ल्हासा (तिब्बत) गये। इसी यात्रा में हिमालय का दिव्य-दर्शन।

इसी बीच बिहार में किसान आन्दोलन मे भाग लिया, स्वामी सहजानंद के संचालन मे। '39 में राहुल जी के साथ जेल मे। '40 मे पंजाब-सीमाप्रांत की गुप्त यात्राएँ। '41 मे दुबारा भागलपुर सेंट्रल जेल में। जेल से छूटने पर पिता की पकड़ मे आ गये और दुबारा गृहस्थाश्रम मे प्रवेश। '42 मे पंजाब-सिन्ध प्रवास।

'44 मे इलाहाबाद मे बसने के खयाल से वापसी । '45 मे ज्ञानपीठ, बनारस । '51 मे वर्धा की राष्ट्र भाषा प्रचार समिति मे । '52-53 मे फिर इलाहाबाद और स्वतत्र लेखन, अनुवाद-कार्य । '63 मे भारत-चीन सीमा-विवाद पर कम्युनिस्ट पार्टी से अनबन । '67 मे बिहार के अकाल के दौरान ग्रामीण इलाको की ओर । '68 मे मैथिली कविताओ के लिए साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत । बिहार के जयप्रकाश आन्दोलन मे '74 मे फिर जेल और '76 मे रिहाई । तब से अपने छोटे बेटे श्रीकात के साथ दिल्ली-प्रवास । बीच-बीच मे विदिशा, रायपुर, पटना, गढवाल के अल्प प्रवास चलते ही रहते हैं ।

पहली कविता जो मैथिली मे थी—1930 मे प्रकाशित हुई – लहरिया सराय के मिथिला मासिक मे । खडी बोली की रचना '35 मे विश्वबधु, लाहौर से । पहली कविता-पुस्तक जो पैम्फलेटनुमा थी-- 'चना जोर गरम' '52 मे । '56 मे 'युगधारा' । तब से अनवरत प्रकाशन—'सतरगे पखों वाली', 'प्यासी पथरायी आँखें', 'तालाब की मछलियाँ', 'भस्माकुर', 'तुमने कहा था', 'खिचडी विप्लव देखा हमने', 'हजार-हजार बाँहो वाली' । मैथिली मे 'पत्रहीन नग्नगाछ' । 'धर्मालोक-शतकम्', 'देश-दशकम्', 'कृषक-दशकम्' और 'श्रमिक-दशकम्' सस्कृत मे । 'पारो', 'नवतुरिया', 'बलचनमा' (मैथिली मे), 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे', 'दुखमोचन', 'उग्रतारा', 'इमरतिया', 'जमनिया का बाबा', 'हीरक जयती' (अब 'अभिनदन' नाम से), 'पारो' (हिन्दी सस्करण) उपन्यास ।

'एक व्यक्ति एक युग' (निराला पर लघु प्रबन्ध) । मेघदूत का हिन्दी काव्यानुवाद । गीत गोविन्द और विद्यापति के गीतो का अनुवाद । बँगला, गुजराती के ग्रन्थो का भी अनुवाद ।

बालकथा साहित्य मे—'सयानी कोयल', 'तीन अहदी', 'प्रेमचन्द', 'अयोध्या का राजा', 'वीर विक्रम' ।

बँगला की कविताएँ शीघ्र प्रकाश्य । पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी सामग्री अभी भी असंकलित ।

यह कैसे होगा ?

यह कैसा होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

नई-नई सृष्टि रचने को तत्पर
कोटि-कोटि कर-चरण
देते रहें अहरह स्निग्ध इंगित
और मै अलस-अकर्मा
पड़ा रहूँ चुपचाप !
यह कैसे होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

अधिकाधिक योग-क्षेम
अधिकाधिक शुभ-लाभ
अधिकाधिक चेतना
कर लूँ संचित लघुतम परिधि में !
असीम रहे व्यक्तिगत हर्ष-उत्कर्ष !
अकेले ही सकुशल जी लूँ सौ वर्ष !
यह कैसे होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

यथासमय मुकुलित हों
यथासमय पुष्पित हों

यथासमय फल दें
आम और जामुन, लीची और कटहल !
तो फिर मैं ही बाँझ रहूँ !
मैं ही न दे पाऊं—
परिणत प्रज्ञा का अपना फल !
यह कैसे होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

सलिल को सुधा बनाएँ तटबंध
धरा को मुदित करें नियत्रित नदियाँ
तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध !
मैं ही रहूँ अनियंत्रित !
यह कैसे होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि,
विवेक हो कुंठित !
तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत्त !
कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर,
भीतर की आखें निपट-निमीलित !
यह कैसे होगा ?
यह क्योंकर होगा ?

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

तुंग हिमालय के कंधों पर
छोटी-बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की उमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिस-तंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

ऋतु बसंत का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल बह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं
अगल-बगल स्वर्णाभ शिखर थे
एक-दूसरे से विरहित हो
अगल-बगल रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होगी,

यह तुम थीं

कर गयी चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थी

सिकुड़ गयी रग-रग
झुलस गया अंग-अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलग असगुन-सा खड़ा रहा कचनार
अचानक उमगी डालों की संधि में
छरहरी टहनी
पोर-पोर में गसे थे टूसे
यह तुम थी

झुका रहा डाले फैलाकर
कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
ऊपर उठ आयी भादो की तलइया
जुड़ा गया बौने की छाल का रेशा-रेशा
यह तुम थीं।

अब के इस मौसम में

अब के इस मौसम में
कोयल आज बोली है
पहली बार

टूसों को उमगे कई दिन हो गये
टेसू को सुलगे कई दिन हो गये
अलसी को फूले कई दिन हो गये
बौरों को महके कई दिन हो गये

झपटी पछिया
दरक गये केलों के पात
लेते ही करवट
तेजाब की फुहारें
छिड़कने लगा सूरज
मुँह वा दिया कलियों ने
देखती रह गयी निठुराई के खेल
चुपचाप कलमुँही
भर गया जी
जोरों से कूक पडी

अब के इस मौसम में
कोयल आज कूकी है
पहली बार !

नीम की दो टहनियाँ

नीम की दो टहनियाँ
झाँकती हैं सीखचों के पार

यह कपूरी धूप
शिशिर की यह दुपहरी, यह प्रकृति का उल्लास
रोम-रोम बुझा लेगा ताजगी की प्यास

रात-भर जगती रही
खटती रही
अब कर रही आराम
गाढी नींद का आश्वास भर अब मौन से लिपटा हुआ है
—बेख़बर सोयी हुई है छापने की यह विराट मशीन
उधर मुँह बाये पड़े है टाइपों के मलिन-धूसर केस
पर इधर तो झाँकती हैं दो सलोनी टहनियाँ
सीखचों के पार

फिसल रही चाँदनी

पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी
नालियों के भीगे हुए पेट पर, पास ही
जम रही, घुल रही, पिघल रही चाँदनी
पिछवाड़े बोतल के टुकड़ों पर—
चमक रही, दमक रही, मचल रही चाँदनी
दूर उधर बुर्जी पर उछल रही चाँदनी

आँगन में दूबों पर गिर पड़ी—
अब मगर किस कदर संभल रही चाँदनी
पिछवाड़े बोतल के टुकड़ों पर
नाच रही, कूद रही, उछल रही चाँदनी
वो देखो, सामने
पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी

['नि० वि० दे० हमने']

फूले कदंब

फूले कदंब
टहनी-टहनी में कन्दुक सम झूले कदंब
फूले कदंब

सावन बीता
बादल का कोष नहीं रीता
जाने कब से वो बरस रहा
ललचाई आँखों से नाहक
जाने कब से तू तरस रहा
मन कहता है, छू ले कदब
फूले कदंब
झूले कदंब

['तु० क० था']

हज़ार बाँहों वाली शिशिर

हज़ार बाँहों वाली शिशिर-विष-कन्या
उतरी लेकर साँसों में प्रलय की वन्या
हिमदग्ध होठों के प्राणशोषी चुम्बन
तन-मन पर लेप गये ज्वालामय चन्दन
एक-एक शिरा में सौ-सौ सुइयो की चुभन
अद्भुत यह भुजपाश अद्भुत आलिगन
तृण-तरु झुलस गये, पड़ा है ओसमय तुषार
किया है महाकाल ने हिमानी का शृंगार
आज है गरल धन्य, कल था सुधा धन्या
हज़ार बाँहो वाली शिशिर-विष-कन्या
उतरी लेकर साँसो मे प्रलय की वन्या

['हज़ार बाँहो वाली']

यह तुम थीं

कर गयी चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थी

सिकुड़ गयी रग-रग
झुलस गया अंग-अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलग असगुन-सा खड़ा रहा कचनार
अचानक उमगी डालों की सधि में
छरहरी टहनी
पोर-पोर में गसे थे टूसे
यह तुम थीं

झुका रहा डाले फैलाकर
कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
ऊपर उठ आयी भादो की तलइया
जुड़ा गया बौने की छाल का रेशा-रेशा
यह तुम थी।

झुक आये कजरारे मेघ

झुक आये कजरारे मेघ
कूक उठे मोर
टर्राये मेढ़क
पहुँचकर धीरज के छोर पर
दम साध लिये धरती ने...

बिजनी की मूँठ से खुजलाकर पीठ
पुजारिन भाभी बोली—
आँधी आयेगी
बादलों को कहाँ से कहाँ उड़ा ले जायेगी
तुम्हारे तो मजे-ही-मजे रहेंगे
धार के उस पार
झूसी की तरफ
रेती पर मारोगे टहलान
फड़कते रहेंगे होंठ
चमकती रहेंगी आँखें
हलकी फुहियों से भीगता रहेगा बदन
छेड़ती रहेगी छिनाल पुरवइया
इकलौती बिटियावाले अधेड़ बाप की भाँति
झुका रहेगा तुम पर बादल
तुम्हारे तो भाई मजे-ही-मजे रहेंगे
ओ मेरे रसिया देवर !
और मुझे आ गयी हँसी
कूक उठे मोर

और मेरा रोआँ-रोआँ हो उठा कंटकित
टर्राये मेढ़क
और मेरा दिल धड़कने लगा जोरों से
हो उठी झींगुरों की री री रीं...
और मैं लगा गया गोता गहराई के अन्दर
झुक आये कजरारे मेघ
और अधिक
और अधिक
और अधिक

सिंदूर-तिलकित भाल

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल !
याद आता तुम्हारा सिंदूर-तिलकित भाल !
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज ?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज ?
चाहिए किसको नही सहयोग ?
चाहिए किसको नही सहवास ?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य मे टकराये यह उच्छ्वास ?
हो गया हूँ मैं नही पाषाण
जिसको डाल दे कोई कही भी
करेगा वह कभी कुछ न विरोध
करेगा वह कुछ नही अनुरोध
वेदना ही नहीं उसके पास
फिर उठेगा कहाँ से निःश्वास
मैं न साधारण, सचेतन जंतु
यहाँ हाँ—ना—किंतु और परंतु
यहाँ हर्ष-विषाद-चिंता-क्रोध
यहाँ है सुख-दुख का अवबोध
यहाँ है प्रत्यक्ष औ' अनुमान
यहाँ स्मृति-विस्मृति सभी के स्थान
तभी तो तुम याद आती प्राण,
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण !
याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहंगम की कभी थकने न देगी पाँख

याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के
रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम

धन्य वे जिनके मृदुलतम अंक
हुए थे मेरे लिए पर्यंक
धन्य वे जिनकी उपज के भाग
अन्न-पानी और भाजी-साग
फूल-फल औ' कंद-मूल, अनेक विध मधु-मांस
विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दशमांश
ओह, यद्यपि पड़ गया हूँ दूर उनसे आज
हृदय से पर आ रही आवाज—
धन्य वे जन, वही धन्य समाज
यहाँ भी तो हूँ न मैं असहाय
यहाँ भी है व्यक्ति औ' समुदाय
किंतु जीवन-भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय !
मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जायेगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक
मैं रहूँगा सामने (तसवीर में) पर मूक
सांध्य नभ में पश्चिमांत-समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता हूँ, सुमुखि उस काल
याद आता तुम्हारा सिंदूर-तिलकित भाल

वे और तुम

वे लोहा पीट रहे है
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे है
तुम सपने जोड रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन ?
उनीदी घड़ियों में चुरती है

वे हुलसित है
अपनी ही फसलो मे डूब गये है
तुम हुलसित हो
चितकबरी चाँदनियो में खोये हो
उनको दुख है
नये आम की मंजरियो को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य-संकलन दीमक चाट गये है।

प्रेत का बयान

"ओ रे प्रेत—"
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
—"सच-सच बतला !
कैसे मरा तू ?
भूख से, अकाल से ?
बुखार कालाजार से ?
पेचिश बदहजमी, प्लेग महामारी से ?
कैसे मरा तू, सच-सच बतला।"

खड़ खड़ खड़ खड़ हड़ हड़ हड़ हड़
काँपा कुछ हाड़ों का मानवीय ढाँचा
नचा कर लम्बी चम्मचों-सा पंचगुरा हाथ
रूखी-पतली किट-किट आवाज में
प्रेत ने जवाब दिया—

"महाराज—
सच-सच कहूँगा
झूठ नहीं बोलूँगा
नागरिक हैं हम स्वाधीन भारत के...
पूर्णिया जिला है, सूबा बिहार के सिवान पर
थाना धमदाहा, बस्ती रुपउली
जाति का कायथ
उमर है लगभग पचपन साल की
पेशा से प्राइमरी स्कूल का मास्टर था

तनखा थी तीस, सो भी नही मिली
मुश्किल से काटे है
एक नही, दो नही, नौ-नौ महीने !
घरनी थी, माँ थी, वच्चे थे चार
आ चुके है वे भी दयासागर करुणा के अवतार
आपकी छाया में !
मं ही था वाक़ी
क्योंकि करमी की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थी
हमारे अपने पुश्तैनी पोखर में..."

"अरे वाह—"
भभाकर हँस पड़ा नरक का राजा
दमक उठी झालरें कम्पमान सिर के मुकुट की
फर्श पर ठोककर सुनहला लोहदड
अविश्वास की हँसी हंसा दंडपाणि महाकाल
"— वड़े अच्छे मास्टर हो :
आये हो मुझको भी पढ़ाने !!
मै भी तो वच्चा हूँ...
वाह भाई वाह !
तुम तो भूख से नही मरे ?"
हद से ज्यादा डाल कर जोर
होकर कठोर
प्रेत फिर वोला—
"अचरज की वात है
यकीन नही आता मेरी वात पर आपको ?
कीजिये न कीजिये आप चाहे विश्वास
साक्षी है धरती, साक्षी है आकाश
और-और और भले व्याधियाँ हों भारत में...किंतु..."
उठाकर दोनों वाँह
किट-किट करने लगा ज़ोरो से प्रेत
—"किंतु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नही हमको

सावधान महाराज
नाम नहीं लीजियेगा
हमारे सामने फिर कभी भूख का"
निकल गया भाफ आवेग का, तदनंतर
शान्त स्तिमित स्वर में प्रेत फिर बोला।
"जहाँ तक मेरी अपनी बात है
तनिक भी पीर नही
दुख नहीं दुविधा नहीं।
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह नही सकी आँत जब पेचिश का हमला..."
सुनकर दहाड़
स्वाधीन भारतीय प्राइमरी स्कूल के
भुखमरे स्वाभिमानी सुशिक्षित प्रेत की,
रह गये निरुत्तर
महामहिम नरकेश्वर !!!

सौंदर्य-प्रतियोगिता

गगा की मछली...
यमुना की मछली..
सहेली थी दोनों,
हिल-मिल कर रहती थी।
कभी-कभी निकल जाती थीं दूर
संगम से आगे, और आगे, और आगे
एक बार हुआ यूँ कि
सुलग उठी स्पर्धा की आग दोनों के अंदर
—मै हूँ सुन्दर तो मै हूँ सुन्दर।
इस तू-तू मै-मै में दिन चढ़ा ऊपर
कि सहसा दे गया दिखायी कछुआ रेतो पर
जाड़े की धूप में पड़ा पसर कर

मछलियाँ पास आयी
प्रणाम किया, बोली—
सच-सच कहिएगा बाबा,
हम में से किसका वाजिब है खूबसूरती का दावा ?

वयस्क-बुजुर्ग सुधी शिरोमणि कछुआ
हिलाता रहा लंबी गरदन, देखता रहा मछलियों की ओर
बोला वह स्थितप्रज्ञ कुछ क्षण उपरांत—
गंगा की मछली, तुम भी सुन्दर हो
जमना की मछली, तुम भी सुन्दर हो
वाजिब है दोनो का दावा...

चोख़ पड़ी मछलियाँ—तो फिर बाबा
नाहक हम लड़ते रहे इतनी देर ?
कहिये साफ-साफ़
किसके हक़ मे पड़ता है इन्साफ ?
तो फिर सच-सच बतला दूँ ?—
पकी प्रज्ञावाले बाबाजी बोले गरदन हिला
— तुम भी सुदर हो गंगा की मछली,
जमना की मछली, तुम भी सुदर हो
किंतु, बनिस्बत तुम दोनों के
मै अधिक सुदर हूँ
बिल्लौरी काँच-सी कांतिवाली यह गरदन...
वरगद-सी छतनार ऐसी पीठ...
नन्हे मसूर-से ऐसे ये नेत्र...
देखी नही होगी ऐसी खूबसूरती
आओ, और निकट आओ।
यूँ मत घबराओ !

भाग कर दोनों हो गयीं गायब
संगम की अतल जलराशि में
अधूरा ही रह गया
प्रवचन महामुनि का

जयति नखरंजनी

सामने आकर
रुक गयी चमचमाती कार
बाहर निकली वासकसज्जा युवतियाँ
चमक उठी गुलाबी धूप में तन की चंपई कांति
तिकोने नाखूनोंवाली उँगलियाँ
सुर्ख़ नेलपालिश
कीमती रिस्टवाच
अँगूठियों के नग
कानो के मणिपुष्प
किंचित कपटे हुए सघन नील-कुंतल
सब-कुछ चमक उठा, महक उठा वायुमंडल
तरल त्वरित गति थी
ललित थी भंगिमा
करीब के पार्टी-कैम्प तक जाकर पूछ ली अपनी क्रमसंख्या
तत्पश्चात आगे बढी पोलिंग-बूथ की ओर
आ रहा था डालकर वोट एक अधेड़
उँगली की जड़ मे चमक रहा था काला ताजा निशान
ठमक गये सहसा बेचारियों के पैर :
हाय, इतने सुदर हाथ हो जायेंगे दागी !
भडक उठा परिमार्जित रुचि-बोध—
फि. कौन लगवाये काला निशान !
कौन ले बैलट पेपर, मतदान कौन करे ! ...
क्षण-भर ठिठक कर
नयी दिल्ली की तीनो परियाँ

मुड गयी सहसा वापस
स्टार्ट हुई कार, लोग लगे हँसने :
बात थी जरा-सी बस काले निशान की,
तीन वोट रह गये फ़ैशन के नाम पर !
गुनगुनाता रहा वहीं
बार-बार एक युवक—
जयति नखरंजनी !
जयति दृग-अंजनी !
भक्त-भ्रम-भंजनी !
नवयुग निरंजनी !

मंत्र-कविता

ओं शब्द ही ब्रह्म है
ओ शब्द, और शब्द, और शब्द, और शब्द
ओं प्रणव, ओं नाद, ओ मुद्राएँ
ओ वक्तव्य, ओं उद्गार, ओ घोषणाएँ
ओ भाषण...
ओं प्रवचन...
ओं हुंकार, ओ फटकार, ओं शीत्कार
ओं फुसफुस, ओ फूत्कार, ओं चीत्कार
ओं आस्फालन, ओ इंगित, ओं इशारे
ओ नारे, और नारे, और नारे, और नारे

ओं सब-कुछ, सब-कुछ, सब-कुछ
ओ कुछ नही, कुछ नही, कुछ नही
ओ पत्थर पर की दूब, खरगोश के सीग
ओ नमक-तेल-हल्दी-जीरा-हींग
ओ मूस की लेंडी, कनेर के पात
ओं डायन की चीख, औघड की अटपट बात
ओ कोयला-इस्पात-पेट्रोल
ओं हमी हम ठोस, बाकी सब फूटे ढोल

ओं इदमान्नं, इमा आप: इदमज्यं, इदं हवि:
ओं यजमान, ओं पुरोहित, ओं राजा, ओं कवि.
ओं क्रान्तिः क्रान्ति. सर्वग्वं क्रान्ति.
ओं शान्ति शान्ति· शान्ति. सर्वग्वं शान्तिः

ओं भ्रान्तिः भ्रान्तिः भ्रान्तिः सर्वत्रवं भ्रान्ति
ओं बचाओ बचाओ बचाओ बचाओ
ओं हटाओ हटाओ हटाओ हटाओ
ओं घेराओ, घेराओ घेराओ घेराओ
ओ निभाओ निभाओ निभाओ निभाओ

ओं दलों में एक दल अपना दल, ओं
ओं अगीकरण, शुद्धीकरण, राष्ट्रीकरण
ओं मुष्टीकरण, तुष्टिकरण, पुष्टीकरण
ओं एतराज़, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन
ओं ट्रिब्यूनल ओं आश्वासन
ओ गुटनिरपेक्ष, सत्तासापेक्ष जोड़-तोड़
ओं छल-छद, ओं मिथ्या, ओं होड़महोड़
ओं बकवास, ओं उद्घाटन
ओं मरण-मोहन उच्चाटन

ओं काली काली काली महाकाली महाकाली
ओं मार मार मार वार न जाये ख़ाली
ओ अपनी खुशहाली
ओं दुश्मनों की पामाली
ओं मार, मार, मार, मार, मार, मार, मार
ओ अपोजिशन के मुड बने तेरे गले का हार
ओं ऐ ह्री क्ली हूं आङ्
ओं हम चबायेंगे तिलक और गाँधी की टाँग
ओं बूढ़े की ऑख, छोकरी का काजल
ओं तुलसीदल, विल्वपत्र, चन्दन, रोली, अक्षत, गंगाजल
ओं शेर के दाँत, भालू के नाखून, मर्कट का फोता
ओ हमेशा हमेशा करेगा राज मेरा पोता
ओं छूः छूः फूः फू. फट् फिट् फुट्
ओं शत्रुओं की छाती पर लोहा कुट्
ओं भैरों, भैरों, भैरों, ओं बजरंगबली

ओं बंदूक का टोटा, पिस्तौल की नली
ओं डालर, ओं रूबल, ओं पाउंड
ओ साउंड, ओं साउड, ओ साउड

ओम्, ओम् ओम्
ओम् धरती, धरती, धरती, व्योम, व्योम, व्योम
ओ अष्टधातुओं की ईंटों के भट्टे
ओं महामहिम, महमहो उल्लू के पट्ठे
ओ दुर्गा, दुर्गा, दुर्गा, तारा, तारा, तारा
ओ इसी पेट के अन्दर समा जाये सर्वहारा
हरिः ओ तत्सत्, हरि· ओम् तत्सत

खुरदुरे पैर

खुब गये
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयोंवाले खुरदुरे पैर

धँस गये
कुसुम-कोमल मन मे
गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश-कठोर पैर

दे रहे थे गति
रबड़-विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नही, दो नही, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरो को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घंटों के हिसाब से ढोये जा रहे थे।

देर तक टकराये
उस दिन आँखों से वे पैर
भूल नही पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खुब गयी दूधिया निगाहों में
धँस गयी कुसुम-कोमल मन मे

['प्यासी पथरायी आँखें']

चौराहे के उस नुक्कड़ पर

चौराहे के उस नुक्कड़ पर
कॉटो का बिस्तरा बिछाकर
सोया साधू दाढ़ीवाला
लोग तमाशा देख रहे है
अपनी धुन मे आते-जाते।
दिन के दस बजने वाले है
वक़्त हो गया है दफ्तर का
सबके पैरों मे फुर्ती है
लेकिन यह आ गया कहाँ से !
काँटो पर नगा सोया है
ठिठक गया मै लगा देखने
उस औघड बाबा के करतब
नेत्र बद थे वदन अडिग था
शर-श्य्या पर चित लेटा था
दर्शक पैसे फेक रहे थे

सेठों की गलियों का नुक्कड़
कॉटो पर लेटा है फक्कड
चमक रहे पैसे दो पैसे
और पॉच पैसे दस पैसे
जैसी श्रद्धा सिक्के पैसे
निकल रहे है जैसे-तैसे

काँटों पर सोया है कैसे
नागफनी पर गिरगिट जैसे

श्रद्धा का तिकड़म से नाता
जय हे भिक्षुक जय हे दाता
पियो संत हुगली का पानी
पैसा सच है दुनिया फानी

['प्यासी पथरायी आँखें']

तीन दिन तीन रात

वस-सर्विस वद थी
तीन दिन, तीन रात
लगता था, जन-जन की
हृदय-गति मंद थी
तीन दिन, तीन रात
प्राचार्य, जिलाधीश, एस० पी०
सव रहे परेशान
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात

गुम रही गति-हीन सड़के
तीन दिन, तीन रात
पक्तिबद्ध वृक्षो के
दिल भला क्यो नही धडकें
तीन दिन, तीन रात
वस-सर्विस बंद थी ..

दस गुनी कमाई पर
ताँगे व रिक्शावाले
मस्त थे मगन थे
तीन दिन, तीन रात
डूबे थे ताड़ी और दारू में

माटी के हज़ारों चुक्कड़
धुत थे, मगन थे
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात

ठप थी अदालतें, सस्ते थे वकील व मुख़्तार
तीन दिन, तीन रात
वीरान थे होटल
धीमी थी धुएँ की रफ़्तार
तीन दिन, तीन रात
सरकारी जीप-ट्रक
पीती रहीं पेट्रोल
तीन दिन, तीन रात
बस वाले पीते रहे
मालिकों की खीझ का
मट्ठा और घोल
तीन दिन, तीन रात

बस के अड्डों पर
फ़ौज रही तैनात
उड़ती रही अफ़वाहें
कटती रही हर बात
तीन दिन, तीन रात
विकल थी हुकूमत
चिन्तित थे अधिकारी
तीन दिन, तीन रात
पूर्णिया टाउन में
कर्फ़्यू था जारी
तीन दिन, तीन रात
तरुणों में गर्मी थी
लोग परेशान थे

तीन दिन, तीन रात
बस की लाश का
चिता-भस्म देख-देख
हम भी हैरान थे
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात
तीन दिन, तीन रात
तीन दिन, तीन रात

कछुए ने मारी हाँक गरदन निकालकर

'अरे, आओ, सुन लो एक बात'
कछुए ने मारी हाँक गरदन निकालकर।
पास आया ख़रगोश
झील की कछार पर बैठा था कछुआ।
बोला—क्या बात थी, दादा ? अभी जरा जल्दी में हूँ
लाईन के उस पार वो जो जंगल है
वहाँ आज चुनाव का दगल है
अभी तो अदना-सा पच हूँ, शाम को मगर मुखिया रहूँगा
लौटती बेर तफ़सील में कहूँगा
हाँ तो भला, क्या बात है दादा ?...
लेकर डकार कछुआ लगा कहने—
हमारी झील की मछलियों ने दी थी दावत
कि अभी बुकिंग बंद है हवड़ा की
कि अभी सूखे पड़े है जाल
कि अभी सारा-सारा दिन ताश पीटते है मछुए
पी-पा कर धुत्त, दुहराते रहते है हड़ताली नारे...
तुम भई पता तो लगाना !
रुक गया है सचमुच क्या गाड़ियों का आना-जाना ?

['प्यासी पथरायी आँखें']

बैल के सींगों पर प्राण टँगे गाय के

बैल के सीगो पर प्राण टँगे गाय के
बाघ हँसा बकरी चली गयी मायके,
दिन है लद चले 'सिहासन-राय' के
मिल गये आँतो को 'षट्रस' जायके
बैल के सीगों पर प्राण टँगे गाय के

गाय के प्राण टँगे सीगो पर बैल के
कौन भला नकेल डाले बिगडैल के
सियासत राह में लेट गयी फैल के
भाफ है ऊपर मजहबी तुफैल के
गाय के प्राण टँगे सीगों पर बैल के

['तु० कहा० था']

बाघिन

लम्बी जिह्वा, मदमाते दृग झपक रहे है
बूँद लहू के उन जवडों से टपक रहे हैं
चवा चुकी है ताजे शिशु-मुडों को गिन-गिन
गुर्राती है टीले पर बैठी है बाघिन

पकड़ो, पकडो, अपना ही मुँह आप न नोचे !
पगलायी है, जाने, अगले क्षण क्या सोचे !
इस बाघिन को रक्खेंगे हम चिड़ियाघर में
ऐसा जन्तु मिलेगा क्या त्रिभुवन-भर में !

['खि० वि० दे० हमने']

भूले स्वाद बेर के

सीता हुई भूमिगत, सखी बनी सूपनखा
वचन बिसर गये देर के, सबेर के !
बन गया साहूकार लंकापति विभीषण
पा गये अभयदान शावक कुबेर के !
जी उठा दसकन्धर, स्तब्ध हुए मुनिगण
हावी हुआ स्वर्ण-मृग कंधों पर शेर के !
बुढ़मस की लीला है, काम के रहे न राम !
शबरी न याद रही, भूले स्वाद बेर के !

अकाल और उसके बाद

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त

दाने आये घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनो के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखे कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलायी पाँखें कई दिनों के बाद

आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी

आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी
यही हुई है राय जवाहरलाल की
रफ़ू करेंगे फटे-पुराने जाल की
यही हुई है राय जवाहरलाल की
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी !

आओ, शाही बेंड बजाएँ
आओ, बन्दनवार सजाएँ
खुशियो में डूबें उतराएँ,
आओ तुमको सैर कराएँ—
उटकमंड की, शिमला नैनीताल की
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी

तुम मुसकान लुटाती जाओ
तुम वरदान लुटाती जाओ
आओ जी चाँदी के पथ पर
आओ जी कंचन के रथ पर
नजर बिछी है, एक-एक दिक्पाल की
छटा दिखाओ गति की लय की ताल की
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी
सैनिक तुम्हे सलामी देंगे
लोग-बाग बलि-बलि जायेंगे
दृग-दृग मे खुशियाँ छलकेंगी
ओसों में बूँदें झलकेंगी

प्रणति मिलेगी नये राष्ट्र के भाल की
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी

बेबस-बेसुध, सूखे-रुखड़े,
हम ठहरे तिनकों के टुकड़े...
टहनी हो तुम भारी-भरकम डाल की
खोज-ख़बर तो लो अपने भक्तो के ख़ास महाल की !
लो कपूर की लपट
आरती लो सोने के थाल की
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी

भूखी भारतमाता के सूखे हाथों को चूम लो
प्रेसिडेंट के लंच-डिनर में स्वाद बदल लो, झूम लो
पद्मभूषणों, भारतरत्नों से उनके उद्गार लो
पार्लमेन्ट के प्रतिनिधियों से आदर लो, सत्कार लो
मिनिस्टरों से शेकहैंड लो, जनता से जयकार लो
दाएँ-बाएँ खड़े हज़ारों आफिसरों से प्यार लो
धनकुबेर उत्सुक दीखेंगे उनको जरा दुलार लो
होठों को कंपित कर लो, रह-रह के कनखी मार लो
बिजली की यह दीपमालिका फिर-फिर इसे निहार लो
यह तो नयी-नयी दिल्ली है, दिल में इसे उतार लो
एक बात कह दूँ मलका, थोड़ी सी लाज उधार लो
बापू को मत छेड़ो, अपने पुरखों से उपहार लो
जय ब्रिटेन की, जय हो इस कलिकाल की !
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी !
रफ़ू करेंगे फटे-पुराने जाल की !
यही हुई है राय जवाहरलाल की !
आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी !

[सतरंगे पंखों वाली]

रजनीगंधा

तुम खिलो रात की रानी !
हो म्लान भले यह जीवन और जवानी
तुम खिलो रात की रानी !

प्रहरी-परिवेष्टित इस बंदीशाला में
मै सड़ूँ सही, पर ताजी रहे कहानी
तुम खिलो रात की रानी !

यह प्रहरी के बूटों की कर्कश टापें
रह-रह कर वहुधा नीद तोड़ जाती है
आँखे खुलती तो वस झुँझला उठता हूँ
ये हृदयहीन ! ये नर पिशाच ! ये कुत्ते !
इतने में अनुपम सुवास से सुरभित
शीतल समीर का हलका झोंका आता
सारे अभाव अभियोग भूल जाता हूँ
यह आकुल मन इतना प्रमुदित हो जाता
जय हो जय हो कल्याणी !

यह जेल और यह सेल-नियंत्रित प्राणी...
इस आँगन मे उस ओर तुम्हारा खिलना
यह भीनी-भीनी सारी रात महकना
दिन हुआ कि वस हो गयी मौन तुम सजनी

आयी निशा कि फिर खिली कौन तुम सजनी—
रजनीगंधा बनकर भू पर उतरी हो !
अभिशापित देवसुता या कि परी हो !
पुलकित होते तन-मन, जगती है वाणी
जय जय जय जय कल्याणी !

[युगधारा]

इन सलाखों से टिकाकर भाल

इन सलाखों से टिकाकर भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल
और भी तो पकेंगे कुछ बाल
जाने किसकी/जाने किसकी
और भी तो गलेगी कुछ दाल
न टपकेगी कि उनकी राल
चाँद पूछेगा न दिल का हाल
सामने आकर करेगा वो न एक सवाल
मैं सलाखों मे टिकाये भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल

शासन की बंदूक

खडी हो गयी चाँप कर ककालों की हूक
नभ मे विपुल विराट-सी शासन की बंदूक

उस हिटलरी गुमान पर सभी रहे है थूक
जिसमें कानी हो गयी शासन की बंदूक

बढ़ी बधिरता दसगुनी, बने विनोबा मूक
धन्य धन्य वह, धन्य वह, शासन की बंदूक

सत्य स्वय घायल हुआ, गयी अहिसा चूक
जहाँ-तहाँ दगने लगी शासन की बदूक

जली ठूँठ पर बेठ कर गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक

[तुमने कहा था]

चंदू, मैंने सपना देखा

चन्दू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चन्दू, मैंने सपना देखा, भमुआ से हूँ पटना लौटा
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम्हे खोजते बद्री बाब
चन्दू, मैंने सपना देखा, खेल-कूद में हो बेकाबू

चन्दू, मैंने सपना देखा, कल-परसों ही छूट रहे हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, खूब पतगे लूट रहे हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, लाये हो तुम नया कलैंडर
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चन्दू, मैंने सपना देखा, भमुआ से पटना आये हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, मेरे लिए शहद लाये हो

चन्दू, मैंने सपना देखा, फैल गया है सुयश तुम्हारा
चन्दू, मैंने सपना, देखा, तुम्हे जानता भारत सारा
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम तो बहुत बड़े डॉक्टर हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, अपनी ड्यूटी मे तत्पर हो

चन्दू, मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, पुलिस-यान मे बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चन्दू, मैंने सपना देखा, लाये हो तुम नया कलैंडर

[खिचड़ी विप्लव देखा हमने]

हरिजन-गाथा

एक

ऐसा तो कभी नही हुआ था !
महसूस करने लगी वे
एक अनोखी बेचैनी
एक अपूर्व आकुलता
उसकी गर्भकुक्षियों के अन्दर
बार-बार उठने लगी टीसें
लगाने लगे दौड़ उनके भ्रूण
अन्दर-ही-अन्दर
ऐसा तो कभी नही हुआ था

ऐसा तो कभी नही हुआ था कि
हरिजन-माताएँ अपने भ्रूणो के जनकों को
खो चुकी हों एक पैशाचिक दुष्काड में
ऐसा तो कभी नही हुआ था...

ऐसा तो कभी नही हुआ था कि
एक नही, दो नही, तीन नही—
तेरह-के-तेरह अभागे—
अकिंचन मनुपुत्र
ज़िन्दा झोक दिये गये हो
प्रचंड अग्नि की विकराल लपटों में
साधन-सम्पन्न ऊँची जातियों वाले
सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा !
ऐसा तो कभी नही हुआ था...

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि
महज दस मील दूर पड़ता हो थाना
और दारोगा जी तक बार-बार
ख़बरे पहुँचा दी गयी हों संभावित दुर्घटनाओ की

और, निरतर कई दिनो तक
चलती रही हों तैयारियाँ सरे आम
(किरासिन के कनस्तर, मोटे-मोटे लक्कड,
उपलो के ढेर, सूखी घास-फूस के पूले
जुटाये गये हो उल्लासपूर्वक)
और एक विराट चिताकुड के लिए
खोदा गया हो गड्ढा हँस-हँस कर
और ऊँची जातियों वाली वो समूची आबादी
आ गयी हो होली वाले 'सुपर मौज' के मूड मे
और, इस तरह जिन्दा झोंक दिये गये हों

तेरह-के-तेरह अभागे मनुपुत्र
सौ-सौ भाग्यवान मनुपुत्रों द्वारा
ऐसा तो कभी नही हुआ था...
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था...

दो

चकित हुए दोनों वयस्क बुजुर्ग
ऐसा नवजातक
न तो देखा था, न सुना ही था आज तक !
पैदा हुआ है दस रोज पहले अपनी बिरादरी में
क्या करेगा भला आगे चलकर ?
रामजी के आसरे जी गया अगर
कौन-सी माटी गोड़ेगा ?
कौन-सा ढेला फोड़ेगा ?
मगह का यह बदनाम इलाका
जाने कैसा सलूक करेगा इस बाल से

पैदा हुआ है बेचारा—
भूमिहीन बँधुआ मजदूरों के घर मे
जीवन गुजारेगा हैवान की तरह
भटकेगा जहाँ-तहाँ वनमानुस-जैसा
अधपेटा रहेगा अधनंगा डोलेगा
तोतला होगा कि साफ-साफ़ बोलेगा
जाने क्या करेगा
बहादुर होगा कि बेमौत मरेगा...
फ़िक्र की तलैया में खाने लगे गोते
वयस्क बुजुर्ग दोनों, एक ही बिरादरी के हरिजन
सोचने लगे बार-बार...
कैसे तो अनोखे है अभागे के हाथ-पैर
रामजी ही करेंगे इसकी खै़र
हम कैसे जानेंगे, हम ठहरे हैवान
देखो तो कैसा मुलुर-मुलुर देख रहा शैतान !
सोचते रहे दोनों बार-बार...

हाल ही में घटित हुआ था वो विपाट दुष्कांड...
झोंक दिये गये थे तेरह निरपराध हरिजन
सुसज्जित चिता में...

यह पैशाचिक नरमेध
पैदा कर गया है दहशत जन-जन के मन में
इन बूढ़ों की तो नीद ही उड़ गयी है तब से !
बाक़ी नही बचे हैं पलको के निशान
दिखते हैं दृगों के कोर-ही-कोर
देती है जब-तब पहरा पपोटों पर
सील-मुहर सूखी कीचड़ की

उनमे से एक बोला दूसरे से
बच्चे की हथेलियों के निशान
दिखलायेंगे गुरु जी से

वो जरूर कुछ-न-कुछ वतलायेगे
इसकी क़िस्मत के बारे में
देखो तो ससुरे के कान है कैसे लम्बे
आँखे है छोटी पर कितनी तेज है
कैसी तेज रोशनी फूट रही है इन से !
सिर हिलाकर और स्वर खीच कर
वुद्धू ने कहा—
हाँ जी खदेरन, गुरु जी ही देखेगे इसको
वतायेगे वही इस कलुए की किस्मत के बारे मे
चलो, चलें, वुला लावे गुरु महाराज को...

पास खड़ी थी दस साला छोकरी
दद्दू के हाथो से ले लिया शिशु को
संभल कर चली गयी, झोंपड़ी के अन्दर

अगले नही, उससे अगले रोज
पधारे गुरु महाराज
रैदासी कुटिया के अधेड़ सत गरीवदास
वकरी वाली गंगा-जमनी दाढ़ी थी
लटक रहा था गले से
अँगूठानुमा जरा-सा टुकड़ा तुलसी काठ का
कद था नाटा, सूरत थी साँवली
कपार पर, वाई तरफ घोड़े के खुर
का निशान था
चेहरा था गोल-मटोल, आँखे थी घुच्ची
वदन कठमस्त था...
ऐसे आप अधेड संत गरीबदास पधारे
चमर-टोली मे...

'अरे भगाओ इस बालक को
होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटायेगे धरती से

इसके साथी और संघाती

'यह उन सबका लीडर होगा
नाम छपेगा अख़बारों में
बड़े-बड़े मिलने आयेंगे
लद-लद कर मोटर-कारों में

'खान खोदने वाले सौ-सौ
मज़दूरों के बीच पलेगा
युग की आँचों में फौलादी
साँचे-सा यह वहीं ढलेगा

'इसे भेज दो झरिया-फरिया -
माँ भी शिशु के साथ रहेगी
बतला देना, अपना असली
नाम-पता कुछ न कहेगी

'आज भगाओ, अभी भगाओ
तुम लोगों को मोह न घेरे
होशियार, इस शिशु के पीछे
लगा रहे है गीदड़ फेरे
वड़े-बड़े इन भूमिधरों को
यदि इसका कुछ पता चल गया
दीन-हीन छोटे लोगों को
समझो फिर दुर्भाग्य छल गया

'जनबल धनबल सभी जुटेगा
हथियारों की कमी न होगी
लेकिन अपने लेखे इसको
हर्ष न होगा, गमी न होगी

'सब के दुख में दुखी रहेगा

सव के सुख में सुख मानेगा
समझ-वूझ कर ही समता का
असली मुद्दा पहचानेगा

'अरे देखना इसके डर से
थर थर काँपेंगे हत्यारे
चोर-उचक्के-गुडे-डाकू
सभी फिरेगे मारे-मारे

'इसकी, अपनी पार्टी होगी
इसका अपना ही दल होगा
अजी देखना, इसके लेखे
जंगल मे ही मंगल होगा

'श्याम सलोना यह अछूत शिशु
हम सवका उद्धार करेगा
आज यही सम्पूर्ण क्राति का
वेड़ा सचमुच पार करेगा।

'हिसा और अहिसा दोनो
वहने इसको प्यार करेगी
इसके आगे आपस मे वे
कभी नही तकरार करेगी...'
इतना कहकर उस वावा ने
दस-दस के छह नोट निकाले
वस, फिर उसके होठों पर थे
अपनी उँगलियो के ताले

फिर तो वावा की आँखे
वार-वार गीली हो आयी
साफ़ सिलेटी हृदय-गगन में
जाने कैसी सुधियाँ छायी

नव शिशु का सिर सूंघ रहा था
विह्वल होकर बार-बार वो
साँस खीचता था रह-रह कर
गुमसुम-सा था लगातार वो

पाँच महीने होने आये
हत्याकांड मचा था कैसा !
प्रबल वर्ग ने निम्न वर्ग पर
पहले नही किया था ऐसा !

देख रहा था नवजातक के
दाएँ कर की नरम हथेली
सोच रहा था—इस गरीब ने
सूक्ष्म-रूप में विपदा झेली
आड़ी-तिरछी रेखाओं में
हथियारों के ही निशान हैं
खुखरी है, बम है, असि भी है
गडासा-भाला प्रधान है

दिल ने कहा—दलित माँओं के
सब बच्चे अब बाग़ी होंगे
अग्निपुत्र होंगे वे, अन्तिम
विप्लव में सहभागी होंगे
दिल ने कहा—अरे यह बच्चा
सचमुच अवतारी वराह है
इसकी भावी लीलाओं का
सारी धरती चरागाह है

दिल ने कहा—अरे हम तो बस
पिटते आये, रोते आये !
बकरी के खुर जितना पानी
उसमें सौ-सौ गोते खाये !

दिल ने कहा—अरे यह बालक
निम्न वर्ग का नायक होगा
नयी ऋचाओ का निर्माता
नये वेद का गायक होगा

होंगे इसके सौ सहयोद्धा
लाख-लाख जन अनुचर होंगे
होगा कर्म-वचन का पक्का
फोटो इसके घर-घर होंगे

दिल ने कहा—अरे इस शिशु को
दुनिया-भर मे कीर्ति मिलेगी
इस कलुए की तदबीरों से
शोषण की बुनियाद हिलेगी

दिल ने कहा—अभी जो भी शिशु
इस बस्ती मे पैदा होंगे
सब-के-सब सूरमा बनेंगे
सब के सब ही शैदा होगे

दस दिन वाले श्याम सलोने
शिशु-मुख की यह छटा निराली
दिल ने कहा—भला क्या देखे
नजरे गीली पलको वाली
थाम लिये विह्वल बाबा ने
अभिनव लघु मानव के मृदु पग
पाकर इनके परस जादुई
भूमि अकटक होगी लगभग
बिजली की फुर्ती से बाबा
उठा वहाँ से, बाहर आया
वह था मानो पीछे-पीछे
आगे थी भास्वर शिशु-छाया

लौटा नहीं कुटी में बाबा
नदी किनारे निकल गया
लेकिन इन दोनो को तो अब
लगता था सब-कुछ नया-नया

तीन

'सुनते हो' बोला खदेरन
'बुद्धू भाई देर नही करनी है इसमें
चलो, कही बच्चे को रख आवे...
बतला गये हैं अभी-अभी
गुरु महाराज,
बच्चे को माँ-सहित हटा देना है कही
फौरन बुद्धू भाई...!'
बुद्धू ने अपना माथा हिलाया
खदेरन की बात पर
एक नही, तीन बार !
बोला मगर एक शब्द नही
व्याप रही थी गंभीरता चेहरे पर
था भी तो वही उम्र में बड़ा
(सत्तर से कम का तो भला क्या रहा होगा !)

'तो चलो !
उठो, फौरन उठो !
राम की गाड़ी से निकल चलेगे
मालूम नहीं होगा किसी को...
लौटने में तीन-चार रोज तो लग ही जायेंगे...

'बद्ध भाई, तुम तो अपने घर जाओ
खाओ, पियो, आराम कर लो
रात में गाडी के अन्दर जागना ही तो पड़ेगा...
रास्ते के लिए थोड़ा चना-चबेना जुटा लेना
मैं इत्ते में करता हूँ तैयार

समझा-बुझा कर
सुखिया और उसकी सास को...'

वुद्धू ने पूछा, धरती टेक कर
उठते-उठते—
'झरिया, गिरीडीह, वोकारो
कहाँ रखोगे छोकरे को ?
वही न ? जहाँ, अपनी बिरादरी के
कुली-मजूर होंगे सौ-पचास ?
चार-छै महीने के वाद ही
कोई काम पकड लेगी सुखिया भी...'
और, फिर अपने-आप से
धीमी आवाज में कहने लगा बुद्धू—
छोकरे की वदनसीबी तो देखो
माँ के पेट में था तभी इसका बाप भी
झोंक दिया गया उसी आग में...

'वेचारी सुखिया जैसे-तैसे पाल ही लेगी इसको
मै तो इसे साल-साल देख आया करूँगा
जव तक है चलने-फिरने की ताकत चोले में...
तो क्या आगे भी इस कलुए के लिए
भेजते रहेगे खर्ची गुरु महाराज ? ...'

वढ आया बुद्धू अपने छप्पर की तरफ
नाचते रहे लेकिन माथे के अन्दर
गुरु महाराज के मुँह से निकले हुए
हथियारो के नाम और आकार-प्रकार
खुखरी, भाला, गडासा, वम, तलवार...
तलवार, वम, गडासा, भाला, खुखरी...

[तुमने कहा था]

त्रिलोचन शास्त्री

नाम : बासुदेव सिह

पिता : जगरदेव सिह

जन्म 20 अगस्त 1917, चिरानी पट्टी, कटघरापट्टी, सुल्तानपुर, उ० प्र० ।

वचपन आर्थिक अभावो मे बीता। फिर भी गॉव की अक्खडता और ईमानदारी शुरू से स्वाभिमानी व्यक्तित्व का अग वनी। प्रारम्भिक शिक्षा की शुरुआत गँवई पाठशाला से हुई। 1934 मे दोस्तपुर(जिला सुल्तानपुर)से मिडिल पास। दीपनारायण सिह से अगरेजी और मौलवी मुहम्मद जाहिर से अरबी-फारसी वही सीखी। ज्यादातर ज्ञानार्जन स्वाध्याय से। वहुभापाविद्।

शास्त्री की उपाधि। लाहौर से। सन् 36 मे, सस्कृत विषय लेकर।

अगरेजी का विश्वविद्यालयीन अध्ययन वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से। बी० ए०, फिर एम० ए० (अंगरेजी) पूर्वार्ध ही कर सके—सन् '50-52 के दौरान।

अ।जीविका की शुरुआत '35 से आगरा के प्रभाकर प्रेस मे कम्पोजीटरी से की। सन् '36 से पत्रकार के रूप मे।

'प्रभाकर' साप्ताहिक[आगरा]।'वानर'(मासिक)'38 मे रामनरेश त्रिपाठी के साथ। 'हंस' और 'कहानी'(मासिक)'39-'41। 'प्रदीप'(मासिक)मुरादाबाद '41-'43। 43 मे ही कुछ दिनो तक 'आज' साप्ताहिक और कुछ दिनो तक दैनिक 'आज'(वाराणसी)मे। '44 से '46 तक 'हस' (मासिक)मे दुवारा, इसी समय मुक्तिबोध दफ्तरी थे। वाद मे प्रकाशन के लिए आयी हुई किताबो को छापने के लिए निर्णय देने का काम उन्हे दिया गया।

'46 से '50 तक ज्ञान मण्डल मे 'वृहत् हिन्दी कोश' का सम्पादन। बीच मे कुछ दिनो तक '50 के शुरू मे 'चित्ररेखा' (मासिक) का सम्पादन। इसी बीच 'आज' (साप्ताहिक) का सम्पादन।

'52-'53 तक गणेशराय इटर कॉलिज (उपाधि महाविद्यालय) कर्रा (डोभी), जिला जौनपुर मे अगरेज़ी का अध्यापन।

'53-'54 मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) से प्रकाशित 'अगरेजी-हिन्दी कोश' का सम्पादन।

'54-'67 तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'हिन्दी शब्द-सागर' का सम्पादन, बीच मे '59 मे छह महीने तक राँची (विहार) मे राष्ट्रीय प्रेस की मैनेजरी की। '67 मे सभा से त्यागपत्र।

'67 से '72 तक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय मे विदेशी छात्रो को हिन्दी, उर्दू और सस्कृत की शिक्षा, विश्वविद्यालय परिसर में रहकर ही।

'72 से '75 तक 'जनवार्ता' दैनिक के उपसम्पादक की हैसियत से काम किया।

'75 से '78 सितम्बर तक मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (भोपाल) मे भाषा-सम्पादक पद पर।

फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के अन्तर्गत द्वैभाषिक कोश (उर्दू-हिन्दी) परियोजना मे कार्यरत।

प्रकाशित कृतियाँ

1 धरती (पहला कविता-सग्रह), 1945 मे,
2 गुलाब और बुलबुल (गजले और रूबाइयाँ), 1956 मे,
3 दिगत (सॉनेट सकलन), 1957 मे,
4 ताप के ताए हुए दिन (साहित्य अकादमी, भारत शासन, द्वारा पुरस्कृत), 1980 मे,
5 शब्द, 1980 मे,
6 उस जनपद का कवि हूँ, 1981 मे।

हाथो के दिन आयेगे, कब तक आयेगे,
यह तो कोई नही बताता। करने वाले
जहाँ कही भी देखा अब तक डरने वाले
मिलते है। वे सुख की रोटी कब खायेगे,
सुख से कब सोयेगे, कब उसको पायेगे
जिसको पाने की इच्छा है। हरने वाले
हर हर कर अपना घर भरने वाले
कहाँ नही है। हाथ कहाँ से क्या लायेगे

जब जिस छन मैं हारा

जव जिस छन मे
हारा, हारा, हारा
मैने तुम्हे पुकारा

तुम आये
मुसकाये
पूछा—
कमजोरी है ?

बोला—नही, नही है
किसने तुमसे कहा कि मुझको कमजोरी है

तुम सुनकर
मुसकाये
मुझको रहे देखते
मुझको मिला सहारा

जब जिस छन मै
हारा, हारा, हारा
मैने तुम्हे पुकारा

[धरती]

मिलकर वे दोनों प्रानी

(1)

आये न बहुत दिन बादल
होता नित घाम भयंकर
हरियाली रही न निर्मल
औ' लगी फ़सल मुरझाने
आख़िर अपने बल लेकर
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

(2)

है धूप कठिन सिर-ऊपर
थम गयी हवा है जैसे
दोनों दूबों के ऊपर
रख पैर खींचते पानी
उस मलिन हरी धरती पर
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

(3)

है अचल पवन, साँसें चल
चल रहा पसीना अविरल
चलती है बेड़ी प्रतिपल
विश्राम नहीं है उनको

है आज नही उनको कल
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत मे पानी

(4)

बहती छोटी-सी नाली
तेज़ी से, लहरों वाली
है उसकी चाल निराली
देती बढ़ती, नवजीवन
भरती नूतन हरियाली
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[5]

उजले कपसीले बादल
फिरते नभ में दल-के-दल
बढ़ रही तपन है पल-पल
वे जब-तब करते छाया
देते श्रम को नूतन बल
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत मे पानी

[6]

हलकी पुरवैया आती
श्रम-जल उनका हर जाती
विकसित कर उनकी छाती
वे और अधिक श्रम करते
उनकी उमंग बढ जाती
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[7]

कुछ पछी उड़कर आते
उड़ते-उड़ते बढ़ जाते
उन कानों में भर जाते
सर्राटा या स्वर अपना
वे अथक सींचते जाते
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[8]

जब - तब वे बातें करते
साँसों को संयत रखते
अविराम काम ही करते
पल दो पल नयन मिलाते
बल की परिभाषा करते
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[9]

वे सीच रहे जग-जीवन
जग-हित मे उनका तन-मन
वे फिर भी निर्बल-निर्धन
विश्वास न उनको अपना
वे अपनेपन से उन्मन
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[10]

बीता है एक पहर-भर
श्रम करते रहे बराबर
वे श्रम-जीवन पर निर्भर

यह उनका प्यार अनोखा
है उत्पादक, है दृढतर
मिलकर वे दोनो प्रानी
दे रहे खेत में पानी

[11]

विश्राम जरा करने को
आराम जरा करने को
नव कर्म-शक्ति भरने को
आये है तरु छाया में
अपनी थकान हरने को
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी।

[धरती]

लहरों में साथ रहे कोई

बाँह गहे कोई

अपरिचय के
सागर में
दृष्टि को पकड़ कर
कुछ बात कहे कोई।

लहरें ये
लहरें वे
इनमें ठहराव कहाँ
पल
दो पल
लहरों में साथ रहे कोई।

[ताप के ताए हुए दिन]

ओ सनेही

ये दिन न भुला ऽऽऽऽना
ओ सनेही

आने को आये
सनेह् लगाया
बाती मिलायी
दीया जगाया
बिसर मत जा ऽऽऽऽना
ओ सनेही

नीबू के फूले
बेला के फूले
कहीं किसी बारी
मे भूले-भूले
बिलम मत जा ऽऽऽऽना
ओ सनेही।

[ताप के ताए हुए दिन]

दिन ये फूल के हैं

मत जाना चले कहीं भूल के
दिन ये फूल के है

किये मन के सिंगार
सामने कचनार
आम के बौर कहते हैं
देखो बहार
हाल ऐसे ही कुछ
अब बबूल के हैं

कोई रूठे मनाओ
जाओ-जाओ अपनाओ
इस हवा की समझ से
सभी को समझाओ
कितने दिन फूल मंदिर में
धूल के है

आ गयी वह कली
आज अपनी गली
कल जो आयी थी
पहचान पाकर खिली
प्राण धारा के है
कहाँ कूल के हैं

[ताप के ताए हुए दिन]

बादलों में लग गयी है आग दिन की

बढ रही क्षण-क्षण शिखाएं
दमकते अब पेड-पल्लव
उठ पडा देखो विहग-रव
गये सोते जाग
बादलो में लग गयी है आग दिन की

पूर्व की चादर गयी जल
जो सितारो से छपायी
दिवा आयी दिवा आयी
कर्म का ले राग
बादलो मे लग गयी है आग दिन की

जो कमाया जो गँवाया
छोड़, उसका छोड़ सपना
और कर-बल, प्राण अपना
आज का दिन भाग
बादलो में लग गयी है आग दिन की

बास तजकर विचरते पशु
विहग उड़ते पर पसारे
नील नभ में मेघ हारे
भूमि स्वर्ण पराग
बादलों में लग गयी है आग दिन की

[धरती]

दुपहर थी जेठ की

दुपहर थी जठ की, हवा भी चल कर ठहरी
थी। नीम की छाँह। चलता कुआँ। मुड़े। चले
हम-तुम। प्यास कड़ी थी और थकन भी गहरी।
घनी छाँह देखी। जा बैठ पेड के तले।
घमा गये थे हम। फिर नगे पाँव भी जले
थे। मर गया पसीना, जी भर बैठ जुडाए।
लोटा-डोर फाँस कर जल काढ़ा। पिया। भले
चंगे हुए। हवा ने जब-तब वस्त्र उड़ाए।
लू की लहरों से कोई किस तरह छुड़ाए
जब मजिल तय करनी हो। पथिकों के साथी
भूमि, वायु, नभ है, रवि-शशि ने बध तुड़ाए।
ठहरा कौन, चली जब-जब गर्मी की भाथी।
हम-तुम समय नही मुहूर्त को देख चले थे,
पंखे लू के मारुत के अविराम झले थे।

[उस जनपद का कवि हूँ]

झापस

आठ पहर की टिप्-टिप्

सडक भीग गयी है
पेडों के पत्तों से बूंदे
गिरती हैं टप्
टप्
हवा सरसराती है
चिडियाँ समेटे पंख यहाँ-वहाँ बैठी है

ऐसे लोग आते हैं जाते है
जो काम टाल नहीं सकते
किसी तरह

सुरमई है
दिन की आभा
छाया-सी सभी ओर छायी है

बादलों ने हलकी अँगडाई ली
एक ओर चमक ज़रा बढ गयी
हवा नये अँखुओं से यो ही बतियाती है
उनका सिर हिलता है
फूल खिलखिलाते है ।

[ताप के ताए हुए दिन]

श्रावण-धारासार

सुविकसितॉतर्भाव - निपीत वारि - वनराजी
सुदलच्छाय-प्रफुल्ल - लता - वीरुध - तरु - ललिता
श्रावण - धारासार - पोषिता ईरण - चलिता
बन्ही वर्णाकार - प्रसून - शोभिता भ्राजी
मेघश्याम - दिगंत - वलय में. बहुधा गाजी
अचिर प्रभा - वनांतभूमि मिहिका संकलिता,
निनदमान - नदविग्न, नदी - चादर उच्छलिता,
वेश नवीन नवीन दिवा - रजनी ने साजी

अपनी ध्वनि की धार षड्ज से खग-मृग-जलचर
जीवन के आघात झेलकर जीवमान है,
हस्ति - महिष - वाराह उल्लसित घूम रहे हैं
वारिद का निर्घोष श्रवण कर. वसुधा गल कर
शिथिल बंध निरुपाय पड़ी है, विहग गान है
जल के तल पर और विटप सब झूम रहे है.

[शब्द]

ठाँव-ठाँव का जीवन

बैठ धूप में हरी मटर की घुँघुनी खाना,
जाड़े का आनंद यही है रस गन्ने का
ताजा-ताज़ा पीना, कोल्हाडों में जाना
इन-उन बातों से मन बहलाना, बनने का
भाव न मन में आने देना, आवाजाही
का ताँता, रस का कडाह में पकना, झोका
जाना गुलौर का, आलू लेकर मनचाही
संख्या में पकने के लिए पहुँचना, चोंका
किसी कमानी या पतली लकड़ी में, डाला
फिर कड़ाह में, कही सुनी सानंद कहानी
'सीत बसंत' 'सख राजा' की, मन मे माला
नए-नए स्वप्नों की, सुधि जानी-अनजानी,
ठाँव-ठाँव का जीवन है कुछ नया, अनोखा,
कही सरल विश्वास है, वही केवल धोखा.

[उस जनपद का कवि हूँ]

भौजी

भौजी नयी-नयी आयी थी. मैं छोटा था
झेंपू था. मिलने-जुलने में सिकुड़ा-सिकुड़ा
रहता था. समान वयवालों से मोटा था
पर फुर्ती थी. पीछा करने पर उड़ा-उड़ा

यहाँ-वहाँ फिरता था. कभी पकड़ में आता
नहीं. खड़ा था, और अचानक मुझे आ-लिया,
हाथ-पाँव फेंके पर छूट कहाँ से पाता !
लगी गुदगुदाने, मन का संकोच धो दिया

देकर दुलहिन नाम मिठाई मुँह में भर दी.
गाँव नही रह पाया, भागा ज्यों ही आया,
कई होलियाँ गयी. एक होली में कर दी
अपने मन की, रँग दी कनई से यह काया.

भौजी आज नही है, जाता हूँ, आता हूँ,
पीछा करते कहाँ किसी को अब पाता हूँ।

[दिगंत]

काकली

तड़के-तड़के क्या जाने क्यों कोकिल बोला.
फिर बोला, फिर बोला, अंधकार की कारा
रह-रह कर थर्रायी. स्वर की ज्योतिर्धारा
बार-बार उमड़ी. कल-कल की ध्वनि ने तोला
विकल और अवसन्न क्षणों को. धीरज डोला
दुख के दल का. इसमें क्या था जिससे हारा
थका हृदय इतना-इतना पा गया सहारा
अप्रियता को दुरा दिया सम्मुख प्रिय को ला.

मुक्ति कहाँ है, मुक्ति कहाँ ? जीवन बन्दी है
पंख फडफडाती है मन मे मुक्ति बिचारी,
तन के बन्धन मे जन-मन निरुपाय पड़ा है
भँवरों में बहुजन हैं, कोई आनन्दी है.
"हो आनन्द न सबका तो मानवता हारी"
कोकिल का तम के गढ में सन्देश बडा है.

[दिगत]

दुख आ गया सिरहाने

दुख आ गया सिरहाने, बड़े प्यार से माथा
सहलाते-सहलाते बोला, 'आँख खोल दे,
मै आँखे खोला करता हूँ और बोल दे
मुझसे अपने जी की'. देखा मैंने क्या था
क्या हो गया, कहा, 'जिनका स्वर घर भरता था,
अब वे लोग कहाँ हैं.' दुख ने कहा, 'मोल दे
अपने भोलेपन का अब तू और रोल दे
आँसू जी तड़पे तो वह सब-कुछ होना था
पहले देखा नही इसी से ठोकर खायी
तूने और गिरा मुँह के बल. उठ हियाव कर,
अभी सामने सारा रास्ता पड़ा हुआ है,
चमड़ा छिला, चोट काफ़ी घुटनों को आयी.
मल कर पाँव झट अदे, चल फिर, नये भाव भर,
मानव है तू, अपने पैरों खड़ा हुआ है.'

[उस जनपद का कवि हूँ]

दुख और गान

जब-जब दुख की रात घिरी तब-तब मैं गाना
खुलकर गाता रहा, अँधेरे में स्वर मेरा
और उदात्त हो गया, सीखा नही छिपाना
मैने मन के भाव. देखकर घोर अँधेरा

दीप स्वरों के पथ पर रखता मै एकाकी
बढता रहा, रुका कब ? इनको-उनकी आशा
मुझे नहीं थी, विषपायी था, कभी सुधा की
चाह नही की, न ही अमरता की परिभाषा

गढने बैठा, डर क्या है, अब दह भी बीते
जो बाकी है, आघातों-प्रत्याघातो मे
नया सत्य आयेगा, हार नही मै जीते
जी मानूँगा, और लड़ूँगा उत्पातो मे

दुख के गाने कठ-कंठ के है पहचाने
सबके प्राण तड़पते है जान-अनजाने.

[दिगत]

इधर त्रिलोचन ने

'इधर त्रिलोचन ने अपना सिक्का जमा लिया,
उसकी बातों पर भी कान लगे हैं देने
दिल-दिमाग़ वाले, जम कर दिलचस्पी लेने
लगे लोग हैं, बातो-बातों में कमा लिया
अच्छा-ख़ासा नाम.' बात बकबक शर्मा की
सुन-सुन कर सिवटहल चचा ने आख़िर पूछा,
'माफ कीजिएगा, गँवार हूँ, उसको छूछा
हमने पाया है, इसमे गर्मागर्मी की
बात नही है, समझाइए हमें भी, उसने
क्या कर डाला है, बूढ़ी माँ ढनक रही है,
जोत नहीं, न रहा बल बावस, बात सही है—
औरों से पूछिए, कहीं पाएगा घुसने ?'
—गाड़ी की हड़हड़-भड़भड़, दोनो की बातें
सुने कि छोड़े, अपने मन का चरखा कातें.

[उस जनपद का कवि हूँ]

आरर डाल

सचमुच, इधर तुम्हारी याद तो नही आई,
झूठ क्या कहूँ। पूरे दिन मशीन पर खटना,
बासे पर आकर पड़ जाना और कमाई
का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना।

इस-उस पर मन दौड़ाना। फिर उठ कर रोटी
करना। कभी नमक से कभी साग से खाना।
आरर डाल नौकरी है। यह बिलकुल खोटी
है। इसका कुछ ठीक नहो है आना-जाना।

आए दिन की बात है। वहाँ टोटा-टोटा
छोड़ और क्या था। किस दिन क्या बेचा-कीना।
कमी अपार कमी का ही था अपना कोटा,
नित्य कुँआ खोदना तब कही पानी पीना।

धीरज धरो, आज कल करते तब आऊँगा,
जब देखूंगा अपने पुर कुछ कर पाऊँगा।

[ताप के ताए हुए दिन]

आत्म तुष्टि

क्यों हिलाइए हाथ, पाँव भी क्यों पिराइए,
क्यों उठाइए आँख, बात भी तो कोई हो,
ढूँढ़ रहे हो लोग कला जैसे खोयी हो—
कितना है आवेश, हेरिए तो हिराइए,
आरा तर्क-वितर्क हुआ माथा चिराइए
कही बैठ चुपचाप, अगर जिह्वा सोयी हो
तो क्या है उपचार भारती जो रोयी हो
तो अपना कर धैर्य कही कैसे थिराइए

परिवर्तन की बात—कई परिवर्तन हम भी
अपनी आँखों देख चुके है, परिवर्तन की
परिभाषा उपयुक्त बराबर हमने की है.
कविता का हम मर्म जानते है, हम कम भी
और बेश भी बूझ चुके है. लय-नर्तन की
माया से भी मुक्त रहे परिपाटी ली है

[शब्द]

दीवारे दीवारे

दीवारे दीवारें दीवारें दीवारे
चारों ओर खडी है. तुम चुपचाप खड़े हो
हाथ धरे छाती पर, मानो वही गडे हो
मुक्ति चाहते हो तो आओ धक्के मारें
और ढहा दें उद्यम करते कभी न हारें
ऐसे-वैसे आघातों से स्तब्ध पड़े हो
किस दुविधा में? हिचक छोड़ दो जरा कड़े हो.
आओ अलगाने वाले अवरोध निवारें.
बाहर सारा विश्व खुला है, वह अगवानी
करने को तैयार खडा है पर यह कारा
तुमको रोक रही है क्या तुम रुक जाओगे ?
नही करोगे ऊँची क्या गरदन अभिमानी ?
बॉधोगे गंगोत्री में गगा की धारा
क्या इन दीवारो के आगे झुक जाओगे ?

[उस जनपद का कवि हूँ]

कोकिल का कूजन

कोकिल का कूजन सुनकर सहकार ने कहा—
अग्रदूत, आये वसंत तो मुझे बताना,
ऐसा न हो कि आकर निकल जाये अनजाना
बोला पचम गायक—आया और आ रहा
है वह भू पर, अपने जी में प्रश्न भी सहा
तो तुमने क्यों, मंजरियो का ताना-बाना
तुम धर लोगे सबसे पहले, फिर बतलाना
है कोई जो उसके वेगों में नही बहा

गंधोन्माद तुम्हारा औरों को व्याकुल कर
इधर-उधर भटकाएगा, तुम खिले रहोगे
अपने परिकल्पित विकास में मीनकेतु के
अधिज्यशर से अपने संकल्पों को खुलकर
कभी किसी से किसी समय भी नही कहोगे,
प्राणवायु में रमे रहोगे रम्य सेतु-से।

[शब्द]

ये पॉव

किसके है ये पॉव, धूल पर साफ़ छपे हैं
पूरे-पूरे इन्हे हवा ने नहीं उधेड़ा,
अभी धूल बैठी है, वरना जरा वखेड़ा
हुआ, कहॉ वह धूल, कणों की नाप नपे है
ये जीवन के वाहक, अच्छी तरह तपे हैं
तपी भूमि से, और चाह ने इन्हे उखेड़ा,
पौली-पौली दौडाया, हर ओर पछेड़ा,
खेप-खेप पर सॉसा आसा लिये खपे है.

मिट्‌टी के इन चित्रो को किसने देखा है,
किसने इनके मर्मो को समझा-बूझा है,
किसने इन सॉसो की व्याकुलता जानी हे,
अभी अकुरित लक्षित एक-एक रेखा है,
जीवन की इस गति की यह किसको सूझा है
छवि जगती मे नश्वरता की पहचानी है।

[शब्द]

छुट्टा-बँधुआ

छुट्टा साँड़ बर्द बँधुआ दोनो चैती के
कटने पर सीवान में मिले, हुई रमरमी
कहा साँड़ ने, "कैसे हालचाल है जी के
इधर तुम्हारे ?" कहा बर्द ने, "नही है कमी

किसी चीज की, खाने-पीने का अच्छा-सा
डौल हो गया है, ये दिन है सुस्ताने के,
कोई चिन्ता नही " साँड़ बोला, "तुम झाँसा
किसी और को देना कभी नही आने के

हम इन दमपट्टी की बातों मे उसे छलो
जो जानता न हो कुछ, घट्ठा यह कन्धे का
सब-कुछ कह देता है, गैल लगे चले चलो,
जितनी माटी चल पाओ, गुर है धन्धे का "

छुट्टा-बँधुआ दोनों जीवन में हारे है,
साक्षी दिन का रवि है तो निशि के तारे है

[दिगंत]

रोटी

एक हजार आठ स्वामी...जी ने डकार ली,
हाथ पेट पर फेरा बोले, "अधिक खा गया,
मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु का ध्यान आ गया,
भूल गया मैं उन लोगों ने तो उतार ली

मर्यादा इस पुण्य-भूमि की, जिन लोगों ने
कहा कि रोटी ही सब-कुछ है यदि यह रोटी
सब-कुछ होती, मुनि त्रिकालदर्शी यह छोटी
बात कहीं कह जाते ! आज नये ढोंगो ने

सबको बहकाया है, श्रद्धा रही अब कहाँ ?..."
प्रणत हो गया भक्त, कहा, "स्वामीजी, भोजन
रुचि का हुआ न होगा, हम वैसा आयोजन
कहाँ कर सके !" "अजी माल था, तुष्ट हूँ यहाँ."

हँसी-हिलोरों से फिर तो वह काया मोटी
हिलने लगी तोंद में सिहरी सचित रोटी.

[दिगंत]

आया है वह

सीथ बीनकर खाता है अब वह बंगाली
जो दूकान चलाता था, तनकर चलता था,
स्निग्ध प्रार्थनाओं के स्वर सुनकर ढलता था
और कृपा करता था, लेकिन अब कंगाली
ने श्रीहीन कर दिया है. घर से गगाली,

अर्तन-बर्तन, बिके. एक दल ही पलता था
उसके अन्न और जल पर प्रतिदिन छलता था
अपनापे के अभिनय से. अब घर है ख़ाली

लाला ओमप्रकाश कर्ण-जैसे दानी हैं
दान करेंगे तभी घूँट पानी का उनके
गले उतर सकता है ब्रह्मा ने भी चुनके
उन्हे सम्पदा सौपी है कितने ज्ञानी हैं,
दोनों हाथ लुटाते है, मन के मानी हैं
खिचडी बँटवाते है, आया है वह सुनके .

[दिगंत]

निरहू ने, भाई, जब से

निरहू ने, भाई, जब से घरबार संभाला
तब से सब-कुछ बदल गया है उन्हें लडाई
अच्छी लगती नही, शान्ति का गरम मसाला
बॉट रहे है मुफ्त सभो को नही बड़ाई
करता हूं, घर के अन्दर तो जरा कडाई
करनी पड़ती है क्या कहिए, नौजवान तो—
गरम खून होता है, उनको गड़ी-गड़ाई
को उघाडना अच्छा लगता है, जबान तो
चलती है कैंची-सी, इन पर जरा ध्यान तो
देना ही पडता है, थोडी गोली-वोली
खाकर तनिक पटा जाते है, सविधान तो
इसे नही अच्छा कहता है, लेकिन बोली
करनी मे अन्तर होता है, सिर पर आए
तभी पता चलता है, कोई क्या समझाए

[उस जनपद का कवि हूँ]

चुनाव के दिन

इलायची से बसा हुआ रूमाल लगाया
आँखों पर कि बह चले आँसू और साथ ही
नाम किसान-मजूर का लिया, और हाथ ही
नया दिखाया नेता ने, स्वर नया जगाया

उसी पुराने गले से, चकित थे सब श्रोता
कैसे शेर बन गया बिल्ली, कौन बात थी।
आज नही कुछ दिन पहले किसकी बिसात थी
इससे बातें करता, समय नही है, होता

बना बनाया उत्तर, और काम पड़ने पर,
बोला करती थी उसकी ओर से गोलियाँ
बिछ जाती थी एक दो नही कई टोलियाँ
आज चिरौरी करता है घोड़ा उड़ने पर

ये चुनाव के दिन है नाटक और तमाशे
नये-नये होंगे, ठनकेगे ढोलक, ताशे।

[ताप के ताए हुए दिन]

आलोचक

कभी त्रिलोचन के हाथों में पैसा-धेला
टिका नहीं। कैसे वह चाय और पानी का
करता बन्दोबस्त। रहा ठूँठ-सा अकेला।
मित्र बनाये नही। भला इस नादानी का

कुफल भोगता कौन। यहाँ तो जिसने जिसका
खाया, उसने उसका गाया। जड़ मृदग भी
मुखलेपों से मधुर ध्वनि करता है। किसका
बस है इसे उलट दे। चाहो रहे रंग भी

हल्दी लगे न फिटकरी, कहाँ हो सकता है।
अमुक-अमुक कवि ने जमकर जलपान कराया,
आलोचक दल कीर्तिमान में कब थकता है।
दूध दुहेगा, जिसने अच्छी तरह चराया।

आलोक है नया पुरोहित उसे खिलाओ
सकल कवि-यश:प्रार्थी, देकर मिलो-मिलाओ।

[उस जनपद का कवि हूँ]

सैनिक बूट

सैनिक बूट विशाल एक हम भी बनवा ले,
जितना यह आकाश वड़ा है, फिर हो जाये
खड़े देखकर छाँह, अनिच्छा हो—सो जायें
किसी तरह भी वास करे. मन को मनवा लें,
खाई से ही त्रास मिटेगा; हम खनवा लें
मर जाये तो ख़ैर—नहीं तो फिर वो जायें
हम रक्षा के रामवाण; चाहे खो जायें
सुरुचि, शील, सौजन्य—वितान नये तनवा लें

जिससे अपने प्राण न धरती से उड़ जाये
अमेरिका, इग्लैंड, रूस जो आज बड़े है
हेतु यही है, आज विशाल बूट की छाया
के नीचे संसार समेटे है. मुड़ जाये
हम भी लखकर मोड़, अन्यथा व्यर्थ खड़े है
धरा-विरोपित दंड सरीखे, क्या कुछ पाया

[शब्द]

दिन दो-चार

जो भी दिन दो-चार दिये तुमने सब-के-सब
घायल थे, सुविशाल पंख भी टूट गये थे,
उन हंसों के रान-पड़ोसी छूट गये थे
किसी दिशा में. कौन पता देता कब-के-कब
मंजिल अपनी देख बढ़े आगे, जब-के-जब
मार-मार कर पंख चले तो फूट गये थे
अपनों से निरुपाय, वेग-बल खूट गये थे
चल-चलाव का झोंक रह गया था अब-के-अब.

इन हंसो से बात एक भी कहाँ कर सका
जब सारा आकाश घेरकर ये छाये थे—
रूप, भाव, रस और प्राण तब बरस रहे थे.
कहाँ प्रतीक्षाशील दृगों में इन्हे भर सका,
जब-जब जग के स्वप्न लोचनों में आये थे
तब-तब मेरे प्राण अकेले तरस रहे थे

[शब्द]

संबंधों के हवामहल

कल तुम्हें
जिन्होंने बुलाया था
क्या वहाँ तुमने कुछ पाया था
या केवल चाहते थे
कान वे
शब्द शब्द शब्द रहे
दान वे
जी अलग तुम्हारा
अकुलाया था।

अनचाहे यह ऐसा
मिल जाना
सुलझाना फिर-फिर
ताना-बाना
क्या तुम्हें
कभी रास आया था।

ये सब संबंधों के
हवामहल
रचते हों कितनी भी
चहल-पहल
पूछो अपने मन से
अपना कुछ लाया था।

[ताप के ताए हुए दिन]

एक समय आता है

एक समय आता है जब जीवन मे स्मृतियाँ
ही रह जाती है, पौरुष चुपचाप किनारे
कही लुढक जाता है, एकाकी मन मारे
जीवन ताका करता है, पहले की कृतियाँ
छायापथ मे मँडलाती है, धारक धृतियाँ
कौध-कौध कर छिप जाती है—किसे पुकारे,
ऐसे मे कोई, जो आशा धरे, उबारे,
कही डूबते को जिसकी खोयी है सृतियाँ

एक समय आता है जब स्मृतियाँ भी पथ के
किसी किनारे छोड व्यक्ति को, क्षितिज-वलय के
सघन कुहासे मे रलमिल कर खो जाती है
कभी किसी दिन, मोह त्यागकर जीवन-रथ के
पाँव पयादे चल देते है, पास प्रलय के
बलाकृष्ट, सज्ञाएँ थक कर सो जाती है.

[शब्द]

जलरुद्ध दूब

मौन के सागर में
गहरे-गहरे
निशिवासर डूब रहा हूँ

जीवन की
जो उपाधियाँ है
उनसे मन-ही-मन ऊब रहा हूँ

हो गया ख़ाना ख़राब कही
तो कही
कुछ में कुछ ख़ब रहा हूँ

बाढ़ में जो
कही न जा सकी
जलरुद्ध रही वही दूब रहा हूँ।

[ताप के ताए हुए दिन]

चम्पा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती

चम्पा काले-काले अक्षर नही चीन्हती
मैं जब पढने लगता हूँ वह आ जाती है
खड़ी-खडी चुपचाप सुना करती है
उसे वडा अचरज होता है :
इस काले चीन्हों से कैसे ये सब स्वर
निकला करते है

चम्पा सुन्दर की लडकी है
सुन्दर ग्वाला है : गायें-भैसे रखता हैं
चम्पा चौपायो को लेकर
चरवाही करने जाती है

चम्पा अच्छी है
चचल है
नटखट भी है
कभी-कभी ऊधम करती है
कभी-कभी वह कलम चुरा देतो है
जैसे-तैसे उसे ढूढ़कर जब लाता हूँ
पाता हूँ—अव कागज गायव
परेशान फिर हो जाता हूँ

चम्पा कहती है :
तुम कागद ही गोदा करते हो दिन-भर
क्या यह काम बहुत अच्छा है

उस दिन चम्पा आयी, मैने कहा कि
चम्पा तुम भी पढ लो
हारे गाढ़े काम सरेगा
गाँधी बाबा की इच्छा है
सब जन पढ़ना-लिखना सीखे

चम्पा ने यह कहा कि
मै तो नही पढ़ूँगी
तुम तो कहते थे गाँधी बाबा अच्छे है
वे पढ़ने-लिखने की कैसे बात कहेगे
मै तो नही पढ़ूँगी

मैंने कहा कि चम्पा, पढ़ लेना अच्छा है
ब्याह तुम्हारा होगा, तुम गौने जाओगी
कुछ दिन बालम संग-साथ रह चला जायगा जब कलकत्ता
बड़ी दूर है वह कलकत्ता
कैसे उसे सँदेसा दोगी
कैसे उसके पत्र पढ़ोगी
चम्पा पढ़ लेना अच्छा है !

चम्पा बोली : तुम कितने झूठे हो, देखा,
हाय राम, तुम पढ़-लिखकर इतने झूठे हो
मैं तो ब्याह कभी न करूँगी
और कही जो ब्याह हो गया
तो मैं अपने बालम को संग-साथ रखूँगी
कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी
कलकत्ते पर बजर गिरे !

नगई महरा

गाँव वाले इधर-उधर कहते थे
नगई भगताया है
सामना हो जाने पर कहते थे
नगई भगत

नगई कहार था
अपना गाँव छोड़ कर
चिरानीपट्टी आ बसा
पूरब की ओर
जहाँ बाग या जंगल था
बाग में
पेड़ आम जामुन या चिलबिल के
जंगल मे मकोय, हैस, रिसवल की बँवरें
झाडियाँ झरबेरी की
और कई जाति की
डेरे, कटार, ढाक, आछी,
बबूल और रेवाँ के
पेड़ भी जहाँ-तहाँ खड़े थे

सूखे पत्ते वहाँ बहुत सारे थे
नगई ने भाड़ बैठा दिया
दिन में साँस मिलने पर
भाड़ को जगाता था
दूर-दूर से भुँजाने वाले आ जाते थे

संझा के पहले ही
भाड़ बन्द होता था

नगई का परिवार
छोटा था
घरनी और एक बच्ची
बच्ची गोहनलगुई थी
घरनी सेंदुर से मिली नही थी
घरौवा कर लिया था

घरनी फुर्तीली थी
चुस्त काम-काज में
बोल-बात में हंसमुख
कभी उसका चेहरा मुरझाया हो
याद नहीं आता मुझे
बात पर बात ऐसे जड़ती थी
जहाँ समझ लड़ती थी
और यह दुर्लभ है
नगई ने गाँव के
तीन-चार घरों का
पानी थाम लिया था
कभी वह भरता था
कभी घरनी भरती थी
कुछ खेत मिले थे इसके लिए
और घर-घर से
कलेवा मिल जाता था
नगई नहीं खाता था
माँ-बेटी खा कर कुछ करती थीं

पूरा परिवार मैंने देखा
पैरों-पैरों है
हाथों ने काम कोई लिया, किया

हो जाने को ही काम
हाथों में आता था
रस्सियाँ भी नगई बरा करता था
सुतली को कात कर बाध भी बनाता था
कहता था, देव ने मुँह चीर दिया है
उसमें कुछ देने को हाथ तो चलाना है
मैनें इस घर में
टुन्न-पुन्न नही देखी
घरनी को महरिन मै कहता था
मै हो नही कोई मुँह-मुँह देखे
क्योकि नगई महरा थे
सबके लिए
केवल बड़े-बूढ़े बखरी वाले
नगई बुलाते थे
कभी नगई कभी महरा
जो भी जबान पर चढ़ गया
कहने की झोक में

नगई को बैठने और उठने का
बोलने-बतियाने का सहूर है
यह अनमोल बावा कहते थे
अनमोल बाबा की आँख
इन्ही बातो पर पड़ती थी
अच्छी तरह जानता हूँ
मुझ पर जब चिढ़ते थे
कहते थे, तू कैसे
बेटा बैरागी का हो गया
भलमनई की कोई चाल नही
नगई की चर्चा
निदकों को प्रिय नही थी
गॉव मे निदक कम नही थे
कहाँ नही होते वे

जहाँ वुद्धि पाते हैं
खुचड़ खोज-खोज कर दिखाते है

वहुतों के पाँव अपनी डगर पर
निन्दा कह कही छिपी कही उभरी
अढुकन से ठोकर खा जाते है
उबेने पाँव चलना कठिन होता है
हर डग का ऊँच खाल
देखे और तोले विना
काम नही चलता
अपना शरीर बेसम्हार होता है
एक दिन अपने द्वारे
इमली के पेड़ तले मैं था
घेउरा बूआ थी महरिन पानी भरने आ गयी
वुआ ने बुलाया महरिन
महरिन आ गयी पास
बुआ ने, अब मै समझता हूँ,
कुछ प्यार कुछ तिरस्कार से
कहा होगा—महरिनिया
तू दमाद के घर
क्यों बैठ गयी
महरिन का जवाब पहले का तैयार लगा
बूआ, अपनी ओर ही निगाह करो
दूसरों को बूझने से अपना ही बूझना
कहीं अच्छा होता है
और वह इज्जत बचाती हुई
घर मे चली गयी
छूछा जोर ले कर बाहर निकली
बिलकुल चुप
बूआ भी चुप ही रही
उसके इनारे की ओर चले जाने पर
आप-ही-आप कहा

कौन नीच जाति के मुँह लगे

तब मेरी उमर जैसी छोटी थी
समझ भी छोटी थी
शब्द याद रह गये
अर्थ वर्षो वाद खुला जब
समाज के परदे खुलने लगे

चार भाई थे—नगई, बैरागी, वित्तू
और कोई और
बैरागी को मैंने देखा था जब-तब
चिरानीपट्टी कभी-कभी आता था
बैरागी का बियाह महजी से हुआ था
महजी इस महरिन की कोख से जनमी थी
बैरागी-महजी के नाते से
कभी-कदा नगई की चर्चा चल जाती थी

चर्चा कमजोर थी
कहारों में
किसी को छोडकर दूसरे को कर लेना
चलता था
और अब भी चलता है
नर या नारी का विसेख कोई नही था
जोड़े जब कोई नही रहा
दूसरे को लाने में बाधा कुछ नहीं थी
जरा ऊँच-नीच का विचार तो यहाँ भी था
जातियों के आपसी भेद थे
कोई जाति कुछ ऊँची
कोई जाति कुछ नीची
स्त्री-पुरुष भिन्न-भिन्न शाखा के हुए
तो मुश्किल पड़ जाती थी
लेकिन पंचायत थी

डाँड बाँध करती था
जिसे मानना ही था
और फिर भोज-भात चलता या
भोज-भात खाया भागे नहीं
आपसी बतियाव, खेला, गाना, नाच-रंग
नाटक, तमाशा, सभी होता था
इसी समय सबके गुन खुलते थे

नगई ने अपने सगे भाई की सास को
घर में बैठाया था
उसी घर मे माँ-बेटी
जेठानी-देवरानी थी
संबंधों की छीछालेदर
घर में न हो गाँव-भर में होती थी
बाप-दादों का कुटका
बछैया छोड़ कर नगई ने छोड़ दिया
मंडई डाल ली चिरानीपट्टी में आकर

मैने एक दिन उधर
पेड़ों के सहारे एक मँड़ई खड़ी देखी
पास ही बँसवट थी
जिसमें साँप सुने जाते थे
और कुछ क़दम पर डँड़ियबा का मसान
गाँव में गाँव से अलग छनिहर
कौन यहाँ रहता है
देखने के लिए गया
आँखें जो देखती थी मन को बताती थी
मुँह मेरा बंद था

नगई ने जेंवरी बरते पूछा, पढ़ते हो
हाँ कहने को खुला
फिर नगई ने पूछा

रमायन वाँच लेते हो
हाँ अटक-अटक कर
सुन कर हँसा नगई खुल कर बोला
वाँचना अटक-अटक कर
और इसे वूझना वूझने की वात है
मेरे कान नगई के कहन-रस मे पगे
अव उसने फिर कहा
लाऊँ मैं, वाँचोगे
ले आओ मैंने कहा
मन में गुना अव तक तो
अपने-आप वाँचता था
आज किसी और के लिए मुझे वाँचना है
यह नयी वात थी
और नयी वात से अनुकुस होता ही है
मन हाल रहा था
वात को फैलाव से वचाने के लिए मै
नगई का नाम वार-वार दे रहा है
लेकिन मुझे उस दिन
उसका नाम मालूम नही था
वातों से वात चली
अलगाव दूर था लगाव पास-पास था
और हर लगाव को कोई नाम देने से
काम वहुत नही वनता
नाम एक निश्चित निश्चय उगाता है
अर्थ संवंधो के सहारे चला करते है
यानी अर्थ का उद्‌गम छिपा रह जाता है
नगई ने वेठन को खोल कर पोथी को
माथे से लगा लिया
फिर उसे खाट के सिरहाने रखा
लोटे मे पानी लेकर मुझ से कहा
चरण मुझे धोने दो
और उसने मेरे दोनों पैरो को

घुटनों तक धो दिया अच्छी तरह
फिर लोटे को माँजा धो कर पानी लिया
और कहा, चलो हाथ-मुँह भी धुला दूँ

मैं उठा पानी वह ढालता रहा
मैने हाथ-मुँह परचाए
पास के मेड़हे में कुशासन एक अलग था
उसकी गर्द झाड़ कर मुझे बैठने को कहा
मेरे बैठ जाने पर पोथी मुझे सौंप दी
फिर मुझे बड़े भक्ति-भाव से प्रणाम किया
कुछ हट कर हाथ जोड कर सामने ही
भूमि पर बैठ गया

मैने पोथी खोल ली
पूछा, कहाँ पढ़ूँ
उसने कहा, सुन्दर कांड
मैंने साँस चैन की ली
सुन्दर कांड कई बार पढा था
पढ़ने को, अर्थ कौन ढूँढ़ता
ध्वनि अपनी मुझे अच्छी लगती थी
जहाँ-जहाँ अर्थ झलक जाता था
वहाँ आनंद मुझे मिलता था
जनक-सुता के आगे ठाढ़ भएउ कर जोरि
पढ़ कर मैं रुका प्रति दोहे पर जैसे
वैसे ही उसने इस दोहे पर
भक्ति-भाव से कहा
सियाबर रामचंद्र की जय
फिर मुझसे कहा अब विश्राम
कुशा-खंड पतला-सा मेरी ओर करके कहा,
चिन्ह रख दो पोथी में
मैंने चिन्ह लगा कर पोथी को बंद किया
उसने अब पूछा था, कल भी क्या आओगे इस ओर

मैंने कहा, आऊँगा
जब मैं खड़ा हुआ चलने को
उसने भक्ति-भाव से मुझे फिर प्रणाम किया

मंड़हे से निकला मै वह भी साथ था
पूछ पड़ा, किसके लड़के हो
मैंने शिक्षा जैसी थी अलक्ष को प्रणाम किया
कहा, जगरदेव सिह मेरे पिता थे
वैरागी बाबू, पूछा उसने
मैंने कहा, उनका यह भी नाम है
उसने कहा, अब ऐसे आदमी दिखायी नही पड़ते
धरम जान कर रहे धरम किया

मै बाहर निकला तो सोचता हुआ निकला
आज जो हुआ वह केवल आज ही हुआ है
और मैने आज के उड़ंछू शब्दों को
पकड़ पाने के लिए अपने मन को
उद्यत कर दिया
ऐसा कम होता है बहुत कम
जब शब्द किसी समय जी से बतियाने लगे
बूआ से मैने सब-कुछ कहा फिर पूछा,
उसका नाम क्या है
बूआ ने, कहा नगई
महरिन को माथे से उबहनी लटकाये
मैंने घर जाते देखा था
उधर वही घर था
मुड़ते भी देख लिया उनको
उसी ओर
कई दिनों बाद
गया नगई की मँड़ई पर

नगई खाँची फांदे बैठा था

हाथों में वही काम
आँखे उन हाथों को
हथवट चिताती हुई
खाँची मे लगी एक आँख मुझे भी देखा
और कहा, बैठो उस पीढे पर
साफ है मैने कुछ ही पहले धोया है
बैठने पर मुझसे कहा,
अच्छा बाँच लेते हो रमायन
तुम्हारे बाबू कहते थे जैसे
अब कोई क्या कहेगा
उनकी भीतर की आँख खुली थी
सुर भी क्या कंठ से निकलता था
जैसे असाढ़ के मेघ की गरज
मैने कहा, महरा
मैं तो अभी सीख ही रहा हूँ
नगई ने कहा, कितने होगे
जो जानते है कही कुछ सीखना है
बाबू की तपस्या का फल
तुम्हें मिला है मिलेगा
मै इस सनेहिल असीस से
चुपाया रहा

नगई ने हाथ चलाते-चलाते फिर कहा,
दुनिया है दुनिया का ज्ञान है आदमी है
आदमी को क्या-क्या नही जानना है
देखते सुनते और करते ज्ञान होता है
अपनी जब होती है समझ नयी होती है
मेरे लिए समझ पाना कठिन था
पर रुक-रुक कर निकले बोल ये
कही ठहर गये थे मेरे मन में
अर्थ बहुत बाद में कुछ-कुछ पाया
धारणा बेकार बोझ ढोना ही नही है

आदमी वात से व्यवहार से
पहचाना जाता है
समझ ही
आदमी को आदमी से जोड़ती है

वर्प वीत जाने के वाद, शायद
एक दिन नगई की ओर जा निकला
इतने जन वहाँ मैंने कभी नही देखे थे
अपना कुछ काम था फिर भी मै रुक गया
नगई की दृष्टि मुझ पर पडी
काम रोक कर मेरे पास आ गया
और कहा, भात है
विरादरी को न्यौता है
दिन परसों निश्चित है
आप कहाँ जाते हो
मैंने कहा, काम से
उसने कहा, मुझे भी वझाव है
परसों आना
इज्जत मैं क्या दूँगा
फिर भी दसो नेह जोड़े
खड़ा ही मिलूँगा
सेवक हूँ और सेवा करना मेरा काम है

मैं आगे वढ़ गया
उस दिन वड़ी भीड थी
वडे-वड़े चूल्हे जगाये गये
जिन पर हडे-कड़ाह चढे थे
कही भात कही दाल और कही
तरकारी पकती थी
लकडियों की कोई कमी नही थी
जंगलो के वीच थी चिरानो पट्टी की वस्ती
दोने-पत्तल पहले से वना कर

ठिकाने से रखे थे
ढखूलाही कोई छोटी नही थी
ढाक के पेड़-ही-पेड़ थे
वड़े और अच्छे पत्ते जिन पर छाये थे
पत्ता और लकड़ी की
जगल में क्या कमी
जगल जिसका हो
उससे कह कर ले लेना था
रोक-टोक कोई खास नही थी
कई बार आ-जा कर
रंग वहाँ का देखा
जो भी मिला काम से लगा मिला
ऐसे लोग भी मिले
जो करते कम और बोलते वहुत रहते है
आवाज ऊँची-से-ऊँची हो आती है
ध्यान उधर जाता है आसपास वालों का
कुछ लोग फिरकी-से फिरते हुए
इनके पास उनके पास जाते थे
काम को देख कर बताते थे
ऐसे करो वैसे करो
मैने सुना, एक कह रहा था, कैसे भला
लेकिन सचेत पॉव कान से कुछ दूर थे
मुँह किसी और हाथ से कुछ कह रहा था

कोई दस बार पँत बैठी थी
हर वार पत्तलें पचास ऊपर लगती थी
नगई ने तीन बीस का हिसाब रखा था
भोजन करने वाले तुष्ट थे
गाँजा, तमाखू, सुर्ती, बीडी और पान का
प्रबंध था
जव जो जिसे चाहिए
जा कर ले लेता था

कुछ बूढ़े और आदर-मान पाने वाले ही
अपनी जगह जमे थे
उनकी सेवा नौजवान करते थे
बार-बार यह या वह पूछकर
सराहना हो रही थी
नगई की यहाँ-वहाँ
बड़े लोग भी प्रबंध ऐसा
नहीं कर पाते
नगई पर कृपा है भगवान की
इस तरह मान दिया
भार हलका कर दिया

पंचायत बैठी थी जाजिम पर
पीपल के नीचे
दिन दो घड़ी शेष था
कोतवाल, सिपाही और गोड़इत
जाति के ही लोग थे
बरौछीदार चँवरदार, मक्खियाँ उड़ाते थे
बैठे हुए लोगों को बचाते हुए
हवा पट पड़ी थी इसी कारण पखे का प्रबध था पसीना चल रहा था
और बड़े-बड़े पखे तीन-चार हाथो से
हवा को लहराते थे
मै उभरी पीपल की सोर पर जरा हट कर
बैठा था, मेरी आँखो के लिए
पहली पचायत थी

चौकीदार ने पुकारा
नगई और लखमनी
दोनो हाथ जोड़े सिर झुकाए हाजिर हुए
फिर उसका दोस बतला कर पूछा गया,
अपने दोस मानते हो
मानते है—दोनो ने साथ कहा

पूछा गया, डाँड-बाँध तुमको मंजूर है
सिर माथे हमको मंजूर है—दोनों बोले
पंचों ने कहा, दस रुपये का डाँड़ है, भात देना होगा
यह भी मंजूर है
फिर महरिन जल लायी, सबको दिया पीने को
नगई ने हुक्का पिया और बारी-बारी सबको दिया
पंचों ने हुक्म दिया, अब तुम दोनों साथ रहो
पंचायत ही मानो पंचपरमेसर है
नगई हाथ जोड़े अब खड़ा हुआ
बोला, जाति गंगा ने मुझे पावन कर दिया
धन्य हुआ
और फिर भोज हुआ
नाच और नाटक हुए

[ताप के ताए हुए दिन]

शमशेर बहादुर सिंह

नाम—शमशेर बहादुर सिह

जन्म—3 जनवरी 1911, देहरादून के एक जाट परिवार मे।

मूलनिवास—ग्राम—एलम, जिला—मुजफ्फर नगर।

पिता का नाम—बाबू तारीफ सिह [कलक्टरी मे चीफ रीडर—गोडा, देहरादून, सहारनपुर आदि मे]

माँ का नाम—प्रभुदेई।

प्रारभिक और माध्यमिक-शिक्षा देहरादून में ही हुई। 1928 में गोडा से हाई स्कूल किया। 1929 में धर्मदेवी से विवाह और 1931 मे इटर पास किया।

आगे की पढाई इलाहाबाद से। 1933 मे बी० ए० और '34 मे बी० ए० (ऑनर्स) अग्रेजी में दाखिला लिया, पर पढाई हो न सकी। '35 मे क्षयग्रस्त पत्नी की मृत्यु।

'35-'36 मे उकील बधुओ (दिल्ली) के कला स्कूल में पेटिग सीखना शुरू। बाद मे इसी की देहरादून शाखा मे शिक्षा ग्रहण करते रहे। साथ-साथ अपने ससुर की केमिस्ट की दूकान पर कम्पाउडरी की।

'37 मे बच्चन की प्रेरणा से पुन इलाहाबाद वापसी। बच्चन और पत जी के सहयोग से पढ़ाई शुरू की, पर एम० ए० (अग्रेजी) पूर्वार्ध ही कर सके। '39 मे पिता की मृत्यु। इसी दौरान 'रूपाभ' मे कार्यालय-सहायक के रूप मे काम किया। '40 मे बनारस से त्रिलोचन के साथ 'कहानी' मासिक मे सम्पादन-सहयोग।

'42 मे अपने मामा बाबू लक्ष्मीचदजी के पास जबलपुर आये और कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियो मे हिस्सा लेने लगे। '44 मे कैंसर-ग्रस्त ससुर को बम्बई लाये। वही इप्टा की गतिविधियो से काफ़ी प्रभावित। '45 मे दुबारा बम्बई जा कर पार्टी कम्यून मे रहे। यही पूर्णचद जोशी, कैफी आजमी आदि से सम्पर्क हुआ। यही से 'नया साहित्य' का सपादन किया और पत्रिका का 'निराला-अक' निकाला। '47 मे पुन. इलाहाबाद वापसी। '48 मे माया प्रेस मे सहायक सम्पादक, सन्

'54 तक एक सौ चालीस रुपये माहवारी पर।

'52 मे 'दूसरा सप्तक' के कवि के रूप मे, सवक्तव्य।

'53 मे बहादुरगंज वाले मकान मे आये, जहाँ दिल्ली आने के पूर्व तक रहे। 1962 मे कुछ महीनो के लिए (गर्मियों मे) सारनाथ आकर रहे। यही एलेन गिन्सबर्ग से निकट का परिचय। '63-'64 में कभी प्रयाग, कभी दिल्ली। अतत '65 मे दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के हिन्दी-उर्दू कोश योजना मे हिन्दी कम्पाइलर की हैसियत से काम। '77 मे वहाँ से सेवा-निवृत्त।

1981 मे मध्यप्रदेश कला परिषद के अन्तर्गत स्थापित प्रेमचद सृजन-पीठ (उज्जैन) मे।

सम्प्रति यहीं।

प्रकाशित कृतियाँ

'दूसरा सप्तक' के सात कवियो मे से एक।

कुछ कविताएँ, 1959 मे।

कुछ और कविताएँ, 1961 मे।

चुका भी हूँ नही मैं।

उदिता, 1980 (इसमे कवि की प्रारभिक कविताएँ है। इस रूप मे प्रथम सकलन)

इतने पास अपने, 1980।

बात बोलेगी, 1981।

अकाल

भूख
        अनाज
मुनाफ़ाखोर का
अनाजखोर का
        बिलकुल छिपा-सा, निर्जन में,
                अँधेरा बाज़ार :
        जिसके चारों ओर गवरमेंट
        कंकरीले रुपे लिये दान-समितियाँ
        और भूखी लाशों से दूर,
        सूने-सूने से खिचड़ी-रसोइयों वाले,
        हम-तुम, वे, सब
        इस मौनतांडव के चारों ओर
        असहाय-से चक्कर लगा रहे है,
        समझ नही पा रहे है,
        कुछ सोच तक नही पा रहे हैं,
        केवल कुछ कर पा रहे है ऐसे
        कि मानो कुछ कर पा नहीं रहे हैं

        मृत्यु का यह नया रूप है स्पष्ट
                हमारे जीवन के बीच
लय-ध्वनि स्वर-संकेत और संज्ञा से·हीन
अभूतपूर्व ।

        भारत के वीर हम

दुश्मन के सीने में
विजय का निश्चित भी तीर हम,
खुली-खुली खोखली आँखों के द्वार पर प्रहरी;
धोबी की रस्सियों पर लटकी
सूखती चोलियों के-से स्तनों की
लाज रखने वाले हम
तेल की दूकान पर बँधी-लटकी
झिल्ली की कुप्पियों के-से
रुंड-मुंड छोटे-छोटे
असंख्य बाल-समूहों के पोषक हम;

उन्नत मस्तक भारतवासी
अपने ही दीर्घ निर्घोषों से मानों
मारवाड का मरुवातावरण कंपित कर देगे हम :
आज मरना सीख रहे हैं
इस मूक शांत युद्ध में,
अपनी शत्रु भयविहीन सड़को और गलियों में—
जहाँ कुत्तों का जीवन भी दीर्घतर लगता है,
स्पृहणीय, केवल
अपना ही दयनीय।

क्यों जन्मा था मनुष्य
बीसवी सदी के मध्यान्ह मे
यों मरने के लिए?
झुलसा-सा पतझड़ का पत्र
चिथडों का बादल-सा
धूमिल सध्याओ मे,
हवा का निरीह कंप केवल!

वीर बलिदान की सदी है यह!
हमी उठेंगे क्या?...
वीर बलिदान की सदी है यह...

नाविध पूर्ण शक्तिशाली
समृद्ध ?
स्वर्ण-इतिहासों के स्रष्टा
हमीं बनेंगे क्या ?
अखिल उत्पादन के अमर अधिकारी
विश्व राष्ट्रों के सग साभिमान
हमी बढ़ेंगे क्या ?

[चुका भी हूँ नहीं मैं]

य' शाम है

[ग्वालियर की एक खूनी शाम का भाव-चित्र। लाल झंडे, जिन पर रोटियाँ टँगी हैं, लिये हुए मजदूरों का जुलूस। उनको रोटियों के बदले मानव-शोषक शैतानों ने—ग्वालियर की सामंती रियासती सरकार ने—गोलियाँ खिलायी। उसी दिन—12 जनवरी, 1944—की एक स्वर-स्मृति।]

य' शाम है
कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का।
लपक उठीं लहू-भरी दरातियाँ
—कि आग है :

धुआँ धुआँ
सुलग रहा
ग्वालियर के मजूर का हृदय।

कराहती धरा
कि हाय-मय विषाक्त वायु
धूम्र तिक्त आज
रिक्त आज
सोखती हृदय
ग्वालियर के मजूर का।

गरीब के हृदय
टँगे हुए

कि रोटियाँ लिये हुए निशान
लाल-लाल
जा रहे
कि चल रहा
लहू-भरे गवालियर के वजार में जलूस :
जल रहा
धुआँ धुआँ
गवालियार के मजूर का हृदय।

राजनीतिक करवटें 1948

[ब-तर्ज कव्वाली]

हाय लीडर दुरंगी न कम गुम हुए !!
बीच धारा अगम थी—गुड़म्-गुम हुए !!

"इन्कलाबी" हमारे न कम गुम हुए :
ले के साइकिल हमारी निगम गुम हुए !!

ऐसे खोये जा के आफ़िस में हम :
अपने कानो पे रक्खे कलम गुम हुए !!

बोली बरसात में इन्कलाबी दुल्हन :
'ले के छाता हमारा बलम गुम हुए।'

रक्खो एक्सौ-चवालीस दफा फूंक-फूंक !
वर्ना रखा जो अगला कदम, गुम हुए !!

जैसे होश आज[1] बंगाल सरकार के;
हम तो ऐसे, तुम्हारी कसम, गुम हुए !

ऐसी आँधी चले...हम भी पूछे—कहाँ;
वो जो ढाते थे जुल्मो-सितम, गुम हुए ??

आ रहे है मसीह्-ओ-ख़िजर झीकते :
हाय ! अब इन्कलाबों में हम गुम हुए !!

---

1 1948-49 के जमाने मे

क्या गुरूजी मनुऽजी को ले आयेंगे ?—
हो गये जिनको लाखों जनम गुम हुए ?

किस एटम्गर से पूछें कि—इन्सान के
हीरोशिमा में कितने अटम गुम हुए ?

हमने ज़ेर-ज़मीं[1], की तरक़्क़ी पसन्द :
ले के शमशेर अपनी। कलम गुम हुए !

[बात बोलेगी]

---

1. अंडरग्राउंड

प्रेम की पाती
(घर के बसन्ता के नाम)

1

कौन के पीतम, कौन की पाती !
आस लगाये दीया न वाती !
ओ मेरे साई और मेरे ईश्वर
तेरा ही नाम अब प्रानों की थाती !

होली का भय, दीवाली का आतंक
ईद मुहर्रम, एक ही भाँति !
पर्व के दिन और ऐसे भयानक
छलनी-छलनी रे देश की छाती !

प्रेम के सगी, धर्म के साथी
ऊँघ गये सब सग-सगाती !
काले बाजार में धर्म की दुल्हन
कैसे ये दूल्हा ! कैसे बराती !

हिन्दू कि मुस्लिम सिख कि इसाई
भारतवासी कौन एक् जाति !

2

कौन पठायी किन्ने रे बाँची
प्रेम की पाती साँची रे साँची !
मै तो न जानूँ उर्दू कि हिन्दी
प्रेम की बानी साँची रे साँची !

प्रान हमारे मान तुम्हारा
एक धरन थे, टॉक न टॉची ।
आज गिरी कुल साख हमारी
देश में परखी लोक में जॉची !

आज सुहाग के फूल वखेरे
माई रे मेरे आग में तॉची !
फूल का कॉटा फूल को छेदे
डंक-लगी-सी भामरी नाची !

तीरथराज की आब गयी कल
आज इन्दौर है मेरठ, राँची !
धन गुजरात में गॉधी तरपन
धन्न रे धर्म की मूरत कॉची !

वैष्णव-जन तो ऐनेई कहिये
साबर-सन्त शती यह सॉची !
कैसा जग्य कि होम हुए हैं
मात-शिशु समिधा भर खॉची !

भारत-भाग्य-विधाता रे जन-मन
जन के रे मन पर चंडी नाची !
आज मनाओ घर के वसन्ता
प्रेम का पर्व है सॉची रे सॉची !

[वात वोलेगी]

बात बोलेगी

बात बोलेगी,
हम नही।
भेद खोलेगी
बात ही।

सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या...देखे !

सत्य का रुख़
समय का रुख़ है :
अभय जनता को
सत्य ही सुख है,
सत्य ही सुख।

दैत्य दानव,
भीषण, क्रूर
स्थिति, कंगाल
बुद्धि, घर मजूर।

सत्य का
क्या रंग है?—
पूछो
एक संग।

एक—जनता का
      दु.ख : एक।
हवा में उड़ती पताकाएँ
      अनेक।

दैत्य दानव। क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि : मजूर घर भर।
एक जनता का—अमर वर.
एकता का स्वर।
—अन्यथा स्वतंत्रय-इति।

[बात बोलेगी]

ओ मेरे घर

ओ मेरे घर
ओ हे मेरी पृथ्वी
साँस के एवज तूने क्या दिया मुझे
—ओ मेरी माँ ?

तूने युद्ध ही मुझे दिया
प्रेम ही मुझे दिया क्रूरतम कटुतम
और क्या दिया
मुझे भगवान दिये कई-कई
मुझसे भी निरीह मुझसे भी निरीह !
और अद्भुत शक्तिशाली मकानीकी प्रतिमाएँ !

ऐसी मुझे जिन्दगी दी
ओह
आँखे दी जो गीली मिट्टी का बुदबुद-सी है
और तारे दिये मुझे अनगिनती
साँसों की तरह
अनगिनती इकाइयो में
मुझसे लगातार दूर जाते
मौत की व्यर्थ प्रतीक्षाओं-से ।

और दी मुझे एक लम्बे नाटक की
हँसी
फैली हुई
दर्शकशाला के इस छोर से उस छोर तक
लहराती कटु-क्रूर !

फिर मुझे जागना दिया, यह कहकर कि
लो और सोओ !
और वही तलवारें अँधेरे की
अंतिम लोरियों के बजाय !

इंसान के अँखौटे में डालकर
सब-कुछ तो दे दिया ;
जब मुझे मेरे कवि का बीज दिया कटु-तिक्त !

फिर एक ही जन्म में और क्या-क्या
चाहिए !

[इतने पास अपने]

सींग और नाखून

सीग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर।

सीने में सूराख़ हड्डी का।
आँखो मे : घास-काई की नमी।

एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उलटी क़लम थामे।

तीन तसलो में कमर का घाव सड़ चुका है।

जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर !

[कुछ और कविताएँ]

उषा

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ

राख से लीपा हुआ चौका
[अभी गीला पड़ा है]

बहुत काली सिल जरा से लाल केसर-से
कि जैसे धुल गयी हो

स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने

नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो

और......
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है।

[कुछ कविताएँ]

टूटी हुई, बिखरी हुई

टूटी हुई, बिखरी हुई चाय
की दली हुई पाँव के नीचे
पत्तियाँ
मेरी कविता
बाल, झड़े हुए, मैल से रूखे, गिरे हुए, गर्दन से फिर भी
चिपके
...कुछ ऐसी मेरी खाल,
मुझसे अलग-सी, मिट्टी मे
मिली-सी

दोपहर-बाद की धूप-छाँह में खड़ी इन्तजार की ठेलेगाड़ियाँ
जैसे मेरी पसलियाँ...
ख़ाली बोरे सूजों से रफ़ू किये जा रहे है...जो
मेरी आँखों का सूनापन हैं

ठड भी एक मुस्कराहट लिये हुए है
जो कि मेरी दोस्त है।

कबूतरो ने एक ग़जल गुनगुनायी...
मै समझ न सका, रदीफ़-काफ़िये क्या थे,
इतना ख़फ़ीफ, इतना हलका, इतना मीठा
उनका दर्द था।

आसमान मे गगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
मै उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूं

और चमक रहा हूँ कहीं...
न जाने कहाँ।

मेरी बाँसुरी है एक नाव की पतवार—
जिसके स्वर गीले हो गये है,
छप्-छप् मेरा हृदय कर रहा है...
छप् छप् छप्।

वह पैदा हुआ है जो मेरी मृत्यु को सँवारने वाला है।
वह दूकान मैंने खोली है जहाँ 'प्वाइजन' का लेबुल लिये हुए
दवाइयाँ हँसती हैं—
उनके इंजेक्शन की चिकोटियों में बड़ा प्रेम है।

वह मुझ पर हँस रही है, जो मेरे होठों पर एक तलुए
के बल खड़ी है
मगर उसके बाल मेरी पीठ के नीचे दबे हुए हैं
और मेरी पीठ को समय के बारीक तारों की तरह
खुरच रहे हैं
उसके एक चुम्बन की स्पष्ट परछायी मुहर बनकर उसके
तलुओं के ठप्पे से मेरे मुँह को कुचल चुकी है
उसका सीना मुझको पीसकर बराबर कर चुका है।

मुझको प्यास के पहाड़ों पर लिटा दो जहाँ मैं
एक झरने की तरह तड़प रहा हूँ।
मुझको सूरज की किरनों में जलने दो—
ताकि उसकी आँच और लपट में तुम
फ़ौवारे की तरह नाचो।

मुझको जंगली फूलों की तरह ओस से टपकने दो,
ताकि उसकी दबी हुई खुशबू से अपने पलकों की
उनीदी जलन को तुम भिगो सको, मुमकिन है तो।

हाँ, तुम मुझसे बोलो, जैसे मेरे दरवाजे की शर्माती चूलें
सवाल करती है बार-बार...मेरे दिल के
अनगिनती कमरों से ।

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं
...जिनमें वह फँसने नहीं आती,
जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती है
जिसको वह गहराई तक दबा नही पाती,
तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ ।

आईनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो ।
आईनो, मै तुम्हारी जिन्दगी हूँ ।

एक फूल ऊषा की खिलखिलाहट पहनकर
रात का गडता हुआ काला कम्बल उतारता हुआ
मुझसे लिपट गया ।

उसमें काँटे नही थे—सिर्फ़ एक बहुत
काली, बहुत लम्बी जुल्फ़ थी जो जमीन तक
साया किये हुए थी...जहाँ मेरे पाँव
खो गये थे ।

वह गुल मोतियो को चबाता हुआ, सितारों को
अपनी कनखियो में घुलाता हुआ, मुझ पर
एक जिन्दा इत्रपाश बनकर बरस पड़ा—
और तब मैंने देखा कि मैं सिर्फ़ एक साँस हूँ जो उसकी
बूँदों में बस गयी है ।
जो तुम्हारे सीनों में फाँस की तरह ख़ाब में
अटकती होगी, बुरी तरह खटकती होगी ।

मैं उसके पाँवों पर कोई सिजदा न बन सका,
क्योकि मेरे झुकते-न झुकते

उसके पाँवों की दिशा मेरी आँखों को लेकर
खो गयी थी।

जब तुम मुझे मिले, एक खुला फटा हुआ लिफाफा
तुम्हारे हाथ आया।
बहुत उसे उलटा-पलटा—उसमें कुछ न था—
तुमने उसे फेंक दिया : तभी जाकर मै नीचे
पडा हुआ तुम्हे 'मै' लगा। तुम उसे
उठाने के लिए झुके भी, पर फिर कुछ सोचकर
मुझे वही छोड़ दिया। मै तुमसे
यों ही मिल लिया था।

मेरी याददाश्त को तुमने गुनाहगार बनाया—और उसका
सूद बहुत बढाकर मुझसे वसूल किया। और तब मैंने कहा—
अगले
जनम में। मैं इस तरह मुस्कुराया जैसे शाम के पानी में
डूबते पहाड़ गमगीन मुस्कुराते है।

मेरी कविता की तुमने खूब दाद दी—मैंने समझा
तुम अपनी ही बाते सुना रहे हो। तुमने मेरी
कविता की खूब दाद दी।

तुमने मुझे जिस रंग में लपेटा, मै लिपटता गया :
और जब लपेट न खुले—तुमने मुझे जला दिया।
मुझे जलते हुए को भी तुम देखते रहे और वह
मुझे अच्छा लगता रहा।

एक खुशबू जो मेरी पलकों में इशारों की तरह
बस गयी है, जैसे तुम्हारे नाम की नन्ही-सी
स्पेलिग हो, छोटी-सी प्यारी-सी, तिरछी स्पेलिग।

आह, तुम्हारे दाँतों से जो दूब के तिनके की नोक

उस पिकनिक में चिपकी रह गयी थी,
आज तक मेरी नींद में गड़ती है।

अगर मुझे किसी से ईर्ष्या होती तो मै
दसरा जन्म बार-बार हर घंटे लेता जाता :
पर मै तो जैसे इसी शरीर से अमर हूँ—
तुम्हारी बरकत !

बहुत-से तीर, बहुत-सी नावे, बहुत-से पर इधर
उडते हुए आये, घूमते हुए गुजर गये
मुझको लिये, सब-के-सब। तुमने समझा
कि उनमें तुम थे। नही, नही, नही।

उनमें कोई न था। सिर्फ़ बीती हुई
अनहोनी और होनी की उदास
रंगीनियाँ थी। फ़कत।

[कुछ और कविताएँ]

सौन्दर्य

एक सोने की घाटी जैसे उड़ चली
जब तूने अपने हाथ उठाकर
मुझे देखा
एक कमल सहस्त्रदली होटों से
दिशाओं को छूने लगा
जब तूने आँख भर मुझे देखा ।

न जाने किसने मुझे अतुलित
छबि के भयानक अतल से
निकाला...जब तू, बाल लहराये,
मेरे सम्मुख खड़ी थी : मुझे नही ज्ञात ।
सच बताना, क्या तू ही तो नही थी ?

तूने मुझे दूरियों से बढ़कर
एक अहर्निश गोद बनकर
लपेट लिया है,
इतनी विशाल व्यापक तू होगी,
सच कहता हूँ, मुझे स्वप्न में भी
गुमान न था

हाँ, तेरी हँसी को मैं उषा की भाप से निर्मित
गुलाब की बिखरती पंखुड़ियाँ ही समझता था :
मगर वह मेरा हृदय भी कभी छील डालेगी,
मुझे मालूम न था ।

तेरी निर्दयता हो शायद दया हो,
दोनों की एक-प्राणता ही शायद
तेरा अजानपन और
तेरा सौन्दर्य है।

[इतने पास अपने]

एक नीला दरिया बरस रहा

एक नीला दरिया बरस रहा है
और बहुत चौड़ी हवाएँ है
मकानात है मैदान
किस क़दर ऊबड़-खाबड़
मगर
एक दरिया

और हवाएँ
मेरे सीने में गूँज रही हैं।

एक रोमान
जो कही नही है मगर जो मैं
हूँ हूँ
एक गूँज ऊबड़-खबड़
लगातार
आँख जो कि अँखुआए हुए
उपज आयी हो बहुत ही क़रीब बहुत
ही क़रीब।

2

एक सुतून
फिर हुआ खड़ा
वही

जहाँ कि वह शुरू से था खड़ा
एक जुनून
जो कि महज नाम था
फिर हुआ
जुनून।
सब तुक एक है
यानी कि मेरा
खून।

अजब बेअदबी है जमाने की—कि
कि
अक्स है इन्तिहाई गहरा
वही दरिया...
और वो मुझे ले गया डुबा
जहाँ इन्तिहाई गहराइयों के सिवा
और कुछ न था
एक इन्तिहाइयत......हाइयत
जो कि महज महज महज
मै हूँ—और
कुछ नही
यहाँ।

3

मगर
मेरी पसली में है—गिन लो
व्यजन : और उनके बीच में है
स्वर
(उसे मेरा ही कहो—फ़िलहाल :
अहा, तुम कितने अच्छे हो कि मूर्ख हो—महात्मा मूर्ख
—इस जमाने के स्वाँग में उतरे हुए
...एक आदिमतम देवता : स्थिरतम !)

नही नहीं नहीं
वह
स्वर :

एक ही हाथ : बाये आकाश को उठाये हुए है
एक गोल गति इक् करोड़ लाख बार घूम-घूम
मुझे लील जाती है
समूचा
अथाहों के दरिया में
अपने अक्स समेत
वह स्तर· सच्च

4

तब मेरे लिए पहाड अरावली के
पुरातन-तम
खोद-खोद डाले गये होंगे
सदैव के एक भविष्य मे अभी से
नग्नतम बिवाइयाँ दरारे
धरती के सीने में अन्दर तक चली गयी हुई
घूम-घूम कर
एक स्थिर चक्कर में
कविता की पक्तियों की तरह—
अभी से।

5

हाँ मगर
वह
स्व
र
एक फ़नल

धुअँवाता
विशाल आकाश में
और वही
मैं
सीढियों के-से
उलझे-पुलझे पथों से
चढ़ रहा हूँ उतर रहा हूँ चढ रहा...
तर रहा...
हूँ
और वही
एक
बड़ा नन्हा-सा
बडी गहराइयों वाला
अणु है अणु
नही मालूम ? अणु
गूँजता हुआ
एक व्यर्थ का अभ्युदय,
याकि
व्यर्थ का तुक—
क्षण का
निरन्तर—
एक बूँद लहू
और लो मेरा आविर्भाव
कि भवता
कि है-हो-था
अभी तक
वही मै कोई
एक कविता

6

एक विलयनवादी काव्य जोकि केवल
मै लिखता—लिख सकता—हमेशा नहीं—

वैसा काव्य। जैसा कि इनमें
ध्वनित-अध्वनित :

स्व

—

—

—

—इत्यादि।

समय के
चौराहों के चकित केन्द्रों से
उद्भूत होता है कोई : "उसे-व्यक्ति-कहो"
कि यही काव्य है।
आत्मतम।
इसीलिए उसमें अपने को खो दिया
जाना गवारा करता हूँ
क्योंकि वहाँ मेरा एक महीन युग-भाव है
वहीं—शायद मेरे लिए...मात्र। शायद
मेरे ही अनेक बिंबों के लिए मात्र।
जिन्हें "मेरे पाठक कहा जाय" मात्र।

तो। इसमें और कुछ नहीं।
कोई संगीत नहीं। केवल प्रलाप।
केवल तुम।
केवल प्रलाप। केवल मै और आप। अनाप शनाप।

7

शराब
यानी इन्सानियत की तलछट का छोड़ा हुआ
स्वाद।
मुझे दो।
मगर पैमाना हो
फोनिमिक्स]
उन भाषाओं का, की, जो

मिलनसीमा को
आगंनित
करती है,
बस
वही मेरा कवि :
तुम्हारा अन्यतम व्यक्ति।

नश्शा मुझे नही होता। नहीं होता।
मुझे पीने वालों को
होता
है—मेरी कविता को
अगर वो उठा सकें और एक घूँट
पी सकें।

अगर।

इसलिए बस
मुझे वही शराब दो। बस।
(—मुझे नश्शा नही चाहिए।)

[चुका भी हूँ नही मैं]

सारनाथ की एक शाम

[त्रिलोचन के लिए]

ये आकाश के सरगम
        खनिज रंग है
वहुमूल्य अतीत है
        या शायद भविष्य ॥ 1 ॥

तू किस
        गहरे सागर के नीचे
                के गहरे सागर
                        के नीचे का
                गहरा सागर होकर
भिंच गया है
अथाह शिला से   केवल
अनिद्य अवर्ण्य मछलियों के विद्यु त
तुम्हें मुझे खनते है
अपने सुख के लिए ॥ 2 ॥

(सुख तो व्यंग्य में ही है
        और कहाँ
युग दर्शन
        मित्र
छल का अपना ही
        छन्द है
सर्वोपरि मधुर मुक्त
        और कितना एब्स्ट्रैक्ट

क्योंकि व्यभिचार ही आधुनिकतम
काव्य कला है आज
आलोचना के डाक्टर
उसे अनादि भी कहते हैं) ।। 3 ।।

शब्द का परिष्कार
स्वयं दिशा है
वही मेरी आत्मा हो
आधी दूर तक
तब भी
तू बहुत दूर है बहुत आगे
त्रिलोचन ।। 4 ।।

वह कोलाहल जो कोंपलों में भरा है
सुनकर
तू विक्षुब्ध हो-हो जाता
क्या उपनिषदों का शोर
उसे दबा पाता ।। 5 ।।

वरुण के किनारे एक चक्रस्तूप है
शायद वही विश्व का केन्द्र है
वही कही
ऐसा सुनते है ।। 6 ।।

आधुनिकता आधुनिकता
डूब रही है महासागर में
किसी कोंपल के ओंठ पे
उभरी ओस के महासागर में
डूब रही है
तो फिर क्षुब्ध क्यों है तू ।। 7 ।।

तूने शताब्दियों
सॉनेट से मुक्त छन्द खन कर
संस्कृत वृत्तों मे उन्हें बॉधा सहज ही लगभग
        जैसे ये आकाश बँधे हुए हैं अपने
सरगम के अट्टहास में ॥ 8 ॥

ओ
शक्ति के साधक अर्थ के साधक
तू धरती को दोनो ओर से
थामे हुए और
आँख मीचे हुए ऐसे ही सूँघ रहा है उसे
जाने कव से ॥ 9 ॥

तुझे केवल मै जानता हूँ ॥ 10 ॥

        क्योंकि
मैं उसी धरती में लोट रहा हूँ   उसके
ऋतुओं की पलकों-सा बिछा हुआ मै
उसकी ऊष्मा में
सुलग रहा हूँ
        शाति के लिए ॥ 11 ॥

एक वासन्ती सोम झलक जो मेरे
अंक से छीन कर चॉद लुका लेता है
खीच ले जाती है प्राण मेरा
        उस पर भी है तेरी दृष्टि ॥ 12 ॥

आन्तरिक एकान्त
वरुणा किनारे की वह पद्य—
मेरी ऊष्मा ॥ 13 ॥

[सारनाथ की एक शाम]

भुवनेश्वर

न जाने कहाँ किस लोक मे आज, जाने किस
सदाव्रत का हिसाव बैठे तुम लिख रहे होंगे (अपनी
भवों में ?)—जहाँ पता नही प्राप्त भी होगा
तुम्हें कोरी चाय या एक हरी पुड़िया का वल
भी ?...हिसाब; मसलन् : ताडी कितने
की ?—कितने की देसी ?—और, रम ?...
कितनी अधिक-से-अधिक, कितनी कम-से-
कम ? कितनी असली, कितनो...।

(इन्सान रोटी पर ही जिन्दा नही : इस
सच्चाई को और किसने अपनी कड़ई मुस्कुराहट-
भरी भूख के अन्दर महसूस किया होगा
एक तपते पत्थर की तरह, भुवनेश्वर,
जितना कि तुमने !)

2

फिर फ्रेम से उतरकर साइडार-अंगो की
अपनी अजव-सी खनक और चमक लिये
गोरी गुलाबी धूप
एक शोख आँख मारती-सी गिरती है
मौन एकान्त...किसी सूने कारिडार मे या ईंटो
के ढेर पर या टपकती शराव के पसीने-सी
आसमानी छत के नीचे,
कही भी, जहाँ तुम वुझी-वुझी-सी अपनी गजल-

भरी आँखों में
अनोखे पद एजरा पाउंड के
या इलियट के भाव-वक्तव्य
पाल कली के-से सरल घरौंदों के डुडूल्स में
संँजोकर
दियासलाइयों और बिजली के तार से सजाकर,
अख़बार के नुचे हुए
कागजो से छाकर, तोड देते होंगे,
सहज, नये मुक्त-छन्दों की तरह, और
हँस पडते होगे निःसारता पर इस कुल
आधुनिकता की।

3

'भूले है बात करके कोई' (ओह, ओ हाली!)
'भूले है बात करके कोई
राजदाॅ से हम!...'
'अल्लह की नातवानो' कि हम, मोमिन! हम—
'दीवार तक न पहुँचे।'
'र म – रामा—हो रामा— अँखियाॅ
मिल के बिछड़ गयी...
अंखियाॅ...!'

4

ओ बदनसीब शायर, एकांकीकार, प्रथम
वाइल्डियन हिन्दी विट्, नव्वाब
फ़कीरों में, गिरहकट, अपनी बोसीदा
जंजीरों में लिपटे, आज़ाद,
भ्रष्ट, अघोरी साधक!
जली हुई बीड़ी की नीलिमा-से रूखे होंट ये
चूमे हुए
किसी रूथ के है—
किसी एक काफ़िर शाम में

किसी
क्रास के नीचे...
वो दिन वो दिन
अजब एक लवली
आवारा यूथ के है जो
धुँधली छतों मे, छितरे वादलो में कही
विखर गये है, वो
ख़ानाख़राव शवाव के
शोख गुनाहों-भरे वदमाश
खूबसूरत दिन। वो
एक खूबसूरत-सी गाली
थूककर चले गये है वही कही...

हाँ, तपती लहरों में छोड़ गये है वो
सगम, गोमती, दशाश्वमेध के कुछ
सैलानियों बीच
न जाने क्या,
एक टूटी हुई नाव की तरह,
जो डूबती भी नही, जो सामने ही हो जैसे
और कही भी नही !

[कुछ और कविताएँ]

अनिल चौधरी के चित्र
[जो दिल्ली की एक प्रदर्शनी मे देखे]

शिमला के पहाड़
गुड़ीमुड़ी
रजाइयों में दुबके पड़े है

हरे भरे काही बैंगनी भूरे नीले आकाश के नीचे
स्वच्छ या गदरे रंगों के आकाश के नीचे
और चम्बल घाटी की गोलमोल विरल रोऐंदार
पहाड़ियाँ
उपत्काओं की उपत्यकाएँ
भेड़ों का घना रेवड़ है और

जल, हरा चौड़ा दूर तक
एक किनारे फैला
चला गया है

ये साँस लेते पहाड़ ये उसाँस लेती पहाड़ियाँ
ये चिकनी पथरीली गलियारियाँ
यह ठहरा हुआ-सा केसरिया आसमान
आत्मीय पारिवारिक मुँह से मुँह मिलाये हुए मानो
ऐसी भरी-पूरी शान्ति सबकी
इस निर्जल लगते वातावरण में

वन झाड़ियों के उमेठे हुए तौलियों के बीच से
फैलकर बहता एक चौड़ा शान्त चश्मा

दूर......वह चश्मा चुपचाप गिर रहा है
—चट्टानों की चिकनी मेहराब के बीच से हम
देख रहे हैं—
ये वन उपत्यकाएँ नहीं गुदगुदैले बच्चे
सो रहे है, कही-कही गुदगुदैली माएँ और पत्नियाँ
और बेखबर सपनों मे जड़ बने उनके
वयस्क आत्मीय जन साथ-साथ
एक अजब कोमलता से सब आश्वस्त
अजब है ना ?

दो सैनिक बूट वहाँ एक तरफ़ खड़े...
व्यग्य-विद्रूप-सा लगता है
वे इस चौखटे से बाहर दूसरे दरवाजे में है

एक स्वच्छ और निर्मल
कविता यहाँ बह रही है
एक जवान कविता

वास्तव मे दो कैनवास है
एक तरल . एक स्थिर
दोनों पारदर्शी
एक-दूसरे में छिपे हुए।

[इतने पास अपने]

गजानन मुक्तिबोध

जमाने भर का कोई इस कदर अपना न हो जाये
कि अपनी जिन्दगी ख़ुद आपको बेगाना हो जाये।

महर होगी ये शब बीतेगी और ऐसी सहर होगी
कि वेहोशी हमारे होश का पैमाना हो जाये।

किरन फूटी है जख़्मों के लहू से : यह नया दिन है :
दिलों की रोशनी के फूल हैं—नजराना हो जाये।

ग़रीबुद्दहर थे हम; उठ गये दुनिया से; अच्छा है...
हमारे नाम रौशन अगर वीराना हो जाये।

बहुत खीचे तेरे मस्तों ने फ़ाके फिर भी कम खीचे
रियाजत ख्वार होती है अगर अफ़साना हो जाये।

चमन खिलता था वह खिलता था, और वह खिलना कैसा था
कि जैसे हर कली से दर्द का याराना हो जाये।

इधर मै हूँ उधर मै हूँ अजल तू वीच में क्या है
फ़कत इक नाम है यह नाम भी धोका न हो जाये।

वो सरमस्तों की महफिल में गजानन मुक्तिवोध आया
सियासत जाहिदो की ख़न्दए-दीवाना हो जाये।

[कुछ और कविताएँ]

ग़ज़ल

जहाँ मे अव तो जितने रोज़
अपना जीना होना है,
तुम्हारी चोटें होनी है...
हमारा सीना होना है।

वो जल्वे लोटते फिरते हैं
ख़ाको-ख़ूने-इसाँ में :
'तुम्हारा तूर पर जाना
मगर नावीना होना है !'*

कदमरंजा है सूए-वाम
एक शोखी कयामत की :
मेरे ख़ूने-हिना-परवर से
रगी जीना होना है !

वो कल आयेगे वादे पर
मगर कल देखिए कव हो !
गलत फिर, हजरते-दिल,
आपका तखमीना होना है।

वस ऐ शमशेर, चल कर,
अव कही उजलतगजी हो जा—
कि हर शीशे को महफिल में
गदाए-मीना होना है।

[कुछ और कविताएँ]

* यह मिसरा लेखक के मामा स्व० वावू लक्ष्मीचन्द्र जी का फ़र्माया हुआ है।

ग़ज़ल

वही उम्र का एक पल कोई लाए
तड़पती हुई-सी ग़जल कोई लाए

हक़ीक़त[1] को लाए तख़ैयुल[2] से बाहर
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए

कहीं सर्द खूँ में तडपती है बिजली
जमाने का रद्दोबदल कोई लाए

उसी कम-निगाही[3] को फिर सौपता हूँ
मेरी जान का क्या बदल कोई लाए

दुबारा हमें होश आए न आए
इशारों का मौक़ा-महल कोई लाए

नजर तेरी दस्तूरे-फ़िरदौस[4] लायी
मेरी जिदगी में अमल कोई लाए

[कुछ और कविताएँ]

---

1. यथार्थ 2. कल्पना 3. उपेक्षा 4 स्वर्गिक सविधान

ग़ज़ल

ईमान गड़बड़ी में है दिल के हिसाब में !
लिक्खा हुआ कुछ और मिला है किताब में !

दिल जिनमें ढूँढ़ता था कभी अपनी दास्ताँ
वो सुर्ख़ियाँ कहाँ है मुहब्बत के बाब मे !

ए दिलनेवाज ! पहलू ही जब दिल के और हों,
क्या ख़िलवतों में लुत्फ, धरा क्या हिजाब में !

उस आस्ताँ तक हमको बहारों में ले के जाओ,
जिस पर कोई शहीद हुआ हो शबाब में !

[उदिता]

तीन शेर

लिखा है मुकद्दर में, दर-दर की दुआ माँगो।
सय्यार्-मह्-ओ-मह्र्-ओ-अख़्तर की दुआ माँगो।

इन्सान के पर्दे में रूठा है खुदा हमसे
इस घर की दुआ माँगो, उस घर की दुआ माँगो।

फिर सुर्ख़ निशाँ बनकर, काँधे पे उठे तनकर
जो सर है हथेली पर उस सर की दुआ माँगो!

[उदिता]

ग़ज़ल

जी को लगती है तेरी बात खरी है शायद
वही शमशेर मुजफ़्फ़रनगरी है शायद

आज फिर काम से लौटा हूं बड़ी रात गये
ताक पर ही मेरे हिस्से की धरी है शायद

मेरी बातें भी तुझे ख़ावे-जवानी-सी हैं
तेरी आँखों में अभी नीद भरी है शायद

× × ×

एक् कलम है और सौ मजमून है,
एक क़तरा ख़ूने-दिल तूफ़ान है।

[कुछ और कविताएँ]

अम्न का राग

सच्चाइयाँ
जो गंगा के गोमुख से मोती की तरह बिखरती रहती है
हिमालय की बर्फ़ीली चोटी पर चाँदी के उन्मुक्त नाचते
परों में झिलमिलाती रहती है
जो एक हजार रंगों के मोतियों का खिलखिलाता समंदर है

उमगों से भरी फूलों की जवान कश्तियाँ
कि बसंत के नये प्रभाव सागर में छोड़ दी गयी हैं।

ये पूरब पश्चिम मेरी आत्मा के ताने-बाने है
मैने एशिया की सतरंगी किरनों को अपनी दिशाओं के
गिर्द
लपेट लिया
और मैं यूरोप और अमरीका की नर्म आँच की धूप-छाँव
पर
बहुत हौले-हौले नाच रहा हूँ
सब संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं
क्योंकि मैं हृदय की सच्ची सुख-शाति का राग हूँ
बहुत आदिम, बहुत अभिनव।

हम एक साथ उषा के मधुर अधर बन उठे
सुलग उठे है
सब एक साथ ढाई अरब धड़कनों में बज उठे है
सिम्फ़ोनिक आनंद की तरह

यह हमारी गाती हुई एकता
संसार के पंच परमेश्वर का मुकुट पहन
समरता के सिहासन पर आज हमारा अखिल लोक-
प्रेसिडेट
वन उठी है।

देखो न हकीकत हमारे समय की कि जिसमें
होमर एक हिन्दी कवि सरदार जाफरी को
इशारे से अपने करीव बुला रहा है
कि जिसमें
फ़ैयाज ख़ॉ विटाफ़ेन के कान में कुछ कह रहा है
मैंने समझा कि संगीत की कोई अमर लता हिल उठी
मैं शेक्सपियर का ऊँचा माथा उज्जैन की घाटियों में
झलकता हुआ देख रहा हूँ
और कालिदास को वैमर के कुजो में विहार करते
और आज तो मेरा टैगोर मेरा हाफिज मेरा तुलसी मेरा
गालिव
एक-एक मेरे दिल के जगमग पावर-हाउस का
कुशल आपरेटर है।

आज सब तुम्हारे ही लिए शांति का युग चाहते है
मेरी कुटूवुटू
तुम्हारे ही लिए प्रतिभाशाली भाई तेजवहादुर
मेरे गुलाव की कलियों-से हँसते-खेलते वच्चो
तुम्हारे ही लिए, तुम्हारे ही लिए
मेरे दोस्तो, जिनसे जिन्दगी में मानी पैदा होते है
और उस निश्छल प्रेम के लिए
जो माँ की मूर्ति है
और उस अमर परमशक्ति के लिए जो पिता का रूप है।

हर घर में सुख
शांति का युग

हर छोटा-बड़ा हर नया-पुराना हर आज-कल-परसों के
आगे और पीछे का युग
शांति की स्निग्ध कला में डूबा हुआ
क्योंकि इसी कला का नाम जीवन की भरी-पूरी गति है।

मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नही
मैं काशी में उन आर्यो का शखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आये
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की
        चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं।

यह कौन मेरी धरती की शांति की आत्मा पर क़ुरबान हो
        गया है
अभी सत्य की खोज तो बाक़ी ही थी
यह एक विशाल अनुभव को चीनी दीवार
उठती ही बढ़ती आ रही है
उसकी ईंटें धड़कते हुए सुर्ख़ दिल है
यह सच्चाइयाँ बहुत गहरी नीवों मे जाग रही है
वह इतिहास की अनुभूतियाँ है
मैंने सोवियत युसुफ़ के सीने पर कान रखकर सुना है।

आज मैंने गोर्की को होरी के आँगन में देखा
और ताज के साये में राजर्षि कुग को पाया
लिंकन के हाथ में हाथ दिये हुए
और ताल्स्ताय मेरे देहाती यूपियन होंठों से बोल उठा
और अरागो की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्ख़ी बन गया
मै जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरूदा को भवों से

जाम की तरह टकराती है
वह मेरा नेरूदा जो दुनिया के शांति पोस्ट आफ़िस का
प्यारा और सच्चा क़ासिद
वह मेरा जोश कि दुनिया का मस्तक आशिक
मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादो की चोट हूँ
हिलोरें लेते वर्ष भर
मै निराला के राम का एक आँसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लोह पर्दो को
एटमी सुई-सा पार कर गया पाताल तक और वही उसको
रोक दिया

मैं सिर्फ एक महान विजय का इदीवर जनता की आँख में
जो शांति की पवित्रतम आत्मा है।

पच्छिम मे काले और सफ़ेद फूल है और पूरब में पीले
और लाल
उत्तर में नीले रंग के और हमारे यहाँ चम्पई साँवले
और दुनिया मे हरियाली कहाँ नही
जहाँ भी आसमान बादलों से जरा भी पोंछे जाते हों
और आज गुलदस्तो में रंग-रंग के फूल सजे हुए है
ओर आसमान इन खुशियों का आईना है।

आज न्यूयार्क के स्काईस्क्रेपरों पर
शाति के 'डवो' और उसके राजहंसों ने
एक मीठे उजले सुख का हलका-सा अँधेरा
और शोर पैदा कर दिया है।
और अब वो आर्जेन्टीना की सिम्त अतलांतिक को पार
कर
रहे है
पाल राब्सन ने नयी दिल्ली से नये अमेरिका की
एक विशाल सिम्फ़नी ब्राडकास्ट की है
और उदयशकर ने दक्षिणी अफ्रीका में नयी अजंता को

स्टेज पर उतारा है
यह महान नृत्य वह महान स्वर कला और सगीत
मेरा है यानी हर अदना-से-अदना इंसान का
बिलकुल अपना निजी।

युद्ध के नक़्शो को कैंची से काटकर कोरियायी बच्चो ने
झिलमिली फूलपत्तों की रौशन फानूसे बना ली है
और हथियारो का स्टील और लोहा हजारों
देशो को एक-दूसरे से मिलाने वाली रेलों के जाल में बिछ
गया है
और ये बच्चे उन पर दौड़ती हुई रेलो के डिब्बों की
खिड़कियों से
हमारी ओर झाँक रहे है
यह फ़ौलाद और लोहा, खिलौनो, मिठाइयों और किताबों
से लदे स्टीमरों के रूप मे
नदियों की सार्थक सजावट बन गया हैं
या विशाल ट्रैक्टर-कम्बाइन और फ़ैक्टरी-मशीनों के
हृदय में
नवीन छंद और लय का प्रयोग कर रहा है।

यह सुख का भविष्य शांति की आँखों में ही वर्तमान है
इन आँखों से हम सब अपनी उम्मीदों की आँखे सेक
रहे है
ये आँखें हमारे दिल में रोशन और हमारी पूजा का
फूल हैं
ये आँखे हमारे क़ानून का सही चमकता हुआ मतलब
और हमारे अधिकारों की ज्योति से भरी शक्ति है
ये आँखें हमारे माता-पिता की आत्मा और हमारे बच्चो
का दिल है

ये आँखे हमारे इतिहास की वाणी
और हमारी कला का सच्चा सपना है

ये आँखें हमारा अपना नूर और पवित्रता है
ये आँखें ही अमर सपनो की हकीकत और
हक़ीक़त का अमर सपना है
इनको देख पाना ही अपने आपको देख पाना है, समझ
पाना है।

हम मनाते हैं कि हमारे नेता इनको देख रहे हों ।

[कुछ और कविताएँ]

गजानन माधव मुक्तिबोध

जन्म : 13 नवम्बर 1917 को श्योपुर [ग्वालियर], म० प्र०।

पिता . श्री माधव मुक्तिबोध, म० प्र० पुलिस की नौकरी मे। माँ ईसागढ़ वुन्देलखड के एक किसान परिवार की। वकौल मुक्तिवोध, 'पिताजी देवता है, माँ मेरी गुरु है। सामाजिक दम्भ, स्वाँग, ऊँच-नीच की भावना, अन्याय और उत्पीड़न से कभी समझौता न करते हुए घृणा करना उसी ने मुझे सिखाया।'

आरम्भिक शिक्षा उज्जैन मे हुई। वही से 1930 मे मिडिल स्कूल की परीक्षा पास की। उसके बाद पढाई का सिलसिना ठीक चला। '35 मे माधव कॉलेज, उज्जैन मे बी० ए० की पढाई की शुरुआत। यही से लेखन की शुरुआत। यही उनका संपर्क प्रभाकर माचवे, वीरेन्द्रकुमार जैन और 'कर्मवीर' के सहयोगी सम्पादक प्रभागचन्द्र शर्मा से हुआ। '38 मे इन्दौर के होल्कर कॉलेज से बी० ए० किया। प्रारभ मे वे रमाशंकर शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी और महादेवी वर्मा की काव्य-शैली से काफ़ी प्रभावित रहे। बाद मे अपने हेडमास्टर, डॉ० विष्णुनारायण जोशी [वर्गसॉ के अध्येता] के प्रभाव मे पश्चिम के चिन्तको और दार्शनिको का गहरा अध्ययन। 1939 में अपनी जिद पर शान्ता जी से प्रेम-विवाह। 1953 मे हिन्दी से एम० ए० किया, नागपुर विश्वविद्यालय से।

20 वर्ष की छोटी उम्र मे मिडिल स्कूल की मास्टरी की शुरुआत। '38 मे 'शारदा शिक्षा सदन' शुजालपुर मडी मे नेमिचन्द्र जैन के साथ सहायक अध्यापकी। यहीं से मार्क्सवादी विचारो के प्रभाव मे आये। '42 मे 'मध्यभारत प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना, उज्जैन मे। '43 मे नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि मित्रो के साथ 'तार सप्तक' के कवियो मे अपनी 16 कविताओ के साथ शामिल। '44 के अत मे इदौर मे फासिस्ट विरोधी लेखक कांग्रेस का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता राहुल जी ने की। '45 मे त्रिलोचन शास्त्री के साथ हंस कार्यालय, वनारस मे। पहले दफ़्तरी, फिर सहायक सम्पादकी। वही से आजीविका की तलाश मे। भारतभूषण अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन के आग्रह पर कलकत्ता गये, पर नौकरी न मिलने पर हारकर '46-'47 में जवलपुर के हितकारिणी

हाई स्कूल मे अध्यापकी, दिन मे। रात मे दैनिक 'जयहिन्द' में काम। यही उन्होने 'समता' द्वैमासिक मे भी सम्पादन-सहयोग किया।

'48 मे जबलपुर से मुक्तिबोध नागपुर गये—नागपुर के रेडियो के समाचार विभाग मे। यही नरेश मेहत्ता, अनिल कुमार, जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' आदि से मैत्री। फिर स्वामी कृष्णानद 'सोख्ता' के सम्पादन मे 'नया खून' मे साहित्यिक और राजनीतिक लेखन। यही से उनका सम्पर्क परसाई से भी हुआ। '58 मे राजनांदगांव के दिग्विजय महाविद्यालय मे प्राध्यापकी। 11 सितम्बर '64 मे लबी बीमारी के उपरात मृत्यु, दिल्ली के एक अस्पताल मे।

लेखन : 'कामायनी एक पुनर्विचार', 'भारत, इतिहास और सस्कृति' [म०प्र० सरकार द्वारा अब तक प्रतिबंधित], 'नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'चाँद का मुँह टेढा है', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'काठ का सपना', 'विपात्र', 'सतह से उठता आदमी', 'भूरी-भूरी खाक धूल', 'समीक्षा की समस्याएँ' और छह खडो मे कुल साहित्य 'मुक्तिबोध रचनावली' के नाम से।

...ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धांतवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !!
उदरम्भिर बन अनात्म बन गये,
भूतों की शादी मे कनात-से तन गये
किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर,

दु:खों के दागों को तमगों-सा पहना,
अपने खयालों मे दिन-रात रहना,
असग बुद्धि व अकेले मे सहना,
जिन्दगी निष्क्रिय बन गयी तलघर,

अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया !!

बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड गये,
करुणा के दृश्यों से हाय ! मुँह मोड गये,
बन गये पत्थर,

बहुत-बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम,
मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम !!

[चाँद का मुँह टेढा है]

मध्य-वित्त

छत के बाँसों में धुएँ के लम्बे-लम्बे
घोर निराशा के काले-काले जालों को,
प्राण-शक्ति की दीर्घ यष्टि से निकाल फेंको।

गहन आपदाओं की छायाओं का यह घर
मानव-मुक्ति-व्यथा के आलोकों से धो लो,
किरणें आयी, दीवालों की छाती खोलो।

झुकी, दबी मटमैली भीतों ही से घिरकर
हुई हवा साँवली, अँधेरे की छाँहो मे,
खोलो द्वार, बिंधो मन प्रातः की बाँहों में।

खोहों की गीली गहराई की मिट्टी मे
पाताली राहों-से बिल हैं साँप अहं के,
आर्यदेव, तुम जंगल काटो, मारो जमके।

अरे, साँप की बाधावाले घर को छोड़ो,
कीटक-स्वार्थी सजग छिपकली-से मन के इन
आखेटों का अन्त करो, हे मानव-जीवन !

जिनकी पीली हवा पुरानी खाँसी-डूबे
लाल-आँख, खुर्राट सत्य की साँस बनी अब
छोड़ो वे दालान पुराने, सायबान सब।

जिसके लकडी के ख़ानों में कबूतरों-से
दाने चुग कर प्रणय बोलते बौद्धिक सज्जन
तोड़ो वह सभ्यता घृणित वह संस्कृति-सर्जन ।

लाल धुआँरी लौ बारीक निविड़ स्वार्थों की
जिसके मन के आँवे में धुएँ-से काले,
तोड़ो उस मृदु स्फटिक श्वेत संस्कृति को पहले ।

पीला कचरा उठा गरम सूनी सडकों का
बहती हवा मलिन अवचेतन प्रक्षोभो से
बहो न ऐसे, चलो न ऐसी हवा-भरोसे ।

आसमान में उठते हैं धुएँ के अजगर
राहों पर चलते है कपड़े पहन जानवर
अपने-अपने आखेटों को आँखों में भर ।

गोल घुमाते धन-वादी लम्बे पट्टे पर
गोल घूमते चक्र तीव्र, मस्तिष्क प्राण के,
एक स्याह शैतानी ताक़त के उफान से ।

घिनी कोयले-खीची काली रेखाओं में
यौन-चित्र-से आधी-टूटी दीवालों पर,
अवसरवादी स्वार्थ नग्न यों रहे उजागर ।

बुद्ध-मूर्ति की आलंकारिक छाया में अब
संस्कृति की अभिजात हँसी का धोखा नंगा,
अहंलीनता की खुल पड़ती कामुक जघा ।

पूँजीवादी स्याह रेल के नीचे आकर
मरा पड़ा लोहे की पटरी पर यह मानव,
हुई भीड़ एकत्र, देखने मृत्यु-भीष्म शव ।

बेच रहा है कालिदास सड़कों पर कंघी,
लगा चाय दूकान यक्ष सबका है संगी,
विरहिणि भार्या धन-कुबेर घर रंग-बिरंगी।

मटक-मटक मुँह बिचकाती है पथ पर पागल
बूढे स्तन लटकाये नंगी भाग्य-देवता,
फूटे बर्तन-सी तिरस्कृता जब मानवता।

छिन्न-भिन्न भागों के भूरे ढेरों-से ये
खड-खंड व्यक्तित्व आज के अपराधों-से,
विफल,भटकते चमगादड-दल-सी साधो-से।

लोभ और कर्तव्य बीच के अंधकार की
मीलों गहरी खाई के गीले सूने में
भावुक मन के कातर होते विचार धीमे।

हुई बुद्धि निःसंग भव्यता में ही अपनी
निज सुदूर ऐकान्तिकता के मरुस्थलों में,
रात्रि कीटकों को किट्-किट् है शून्य पलों में।

गाढ़ालिंगन-बद्ध देह-मन अकस्मात्,पर
बीचोबीच उठी दूरी की छाया काली
करतल पर जलते कपास-सी हिय में साली।

गाढ़ालिंगन-बद्ध प्राण, पर चरम क्षणों में
पैरों पर से चढ़ा, रेंग, सर्पिल सवेदन,
काला-काला नाग वक्ष तक, कामुक दंशन।

दलदल के मटमैले छिछले-से पानी के
काले समतल में पूनम का शशि जा डूबा,
लक्ष्य-च्युत विद्वानों-कवियों से मन ऊबा।

मृदुल भावना के श्यामल-जल विवर अँधेरे
कर्क वक्र-पद अहं-बुभुक्षा का चिर-चचल,
है चरित्र व्यक्तित्वहीन भावों का सम्बल।

यह मध्यमवर्गीय संस्कृति की प्रवंचना
एक लालसा के स्वप्निल सौन्दर्यो-डूवी
खडित दर्पण देख रही अपना मुख लोभी।

फाड़ भव्य प्राचीन इमारत की दीवारें
बूढे बरगद की विकराल जड़े है उभरी,
आत्म-विरोध, द्वित्व के तरु पर आँखें ठहरी।

एक साथ दो विरुद्ध अश्वों पर आरोहित
प्रासादों के राज्यमार्ग का भी अन्वेषक,
श्रमिक क्रान्ति का वैतालिक है बड़ा विदूषक।

ऐसे घोर नगर के भीषण नेताओं ने
घर-घर की उदास छायाएँ नहीं गुनी हैं,
उल्लू की आवाज रात में नही सुनी है।

वे न देख पाये है अब तक गीली गरमी
चिन्ता के स्थिर मेघ-श्याम वातावरणों की
गन्ध न देखी थके देह के आवरणों की।

अम्ल-क्षार-सी भस्म हृदयतल में अनुभव बन
थके हुए क्लर्कों के है जत्थे में डोली,
जिन्दा रहो राह, छाती पर झेलो गोली।

अब तक हैं विद्रूप भयानक आकारों में
कपोल-गह्वर, कपाल-रेखाओं के जाले,
मलिन साँवली गलियों की वौनी दीवालें।

जड़ीभूत कष्टों के प्रस्तर-स्थिर रूपो से,
वे डरावने मुख मेरे उर में यों तत्पर,
सघन, भयानक छाया-चित्रों-से भीतों पर।

शशि-खग्रास ग्रहण की श्यामल छायाओं का
वातावरण अपावन, अन्तर में अभिन्न-सा
एक भयंकर भावी के संकेत-चिह्न-सा।

कीचड़-सनी गली के श्यामल ओझल कोने
मरे हुए चूहे की बास, पुरानी घिन-सी,
रहतीं वहाँ मानवात्माएँ कैसी ? किन-सी ?

शीत उपेक्षा की भौंहों के नीचे फिरती,
भिन्न दिशाओं में सफेद कौडो की आँखें,
वाह, काल का रूप कि जिससे रजनी झाँके।

आदर्शों के त्यक्त शिवालय के सूने में
स्वार्थी इच्छा-श्वान दुबकते, सोते नीरव,
है सुविधानुसार सत्यों के प्रयोग अभिनव।

मन्तव्यों, वक्तव्यों, कर्तव्यों में अन्तर
देख शब्द का अर्थ अनाहत खोया-खोया,
बेहद के मैदान कबीरा बेबस रोया।

अन्तर के पाताल-कक्ष में जलती रहती,
क्रोधी की रक्तिम आँखों में मेरी नीरव,
एक नकारात्मक विरोधिनी बुद्धि युगान्तक।

दक्षिण-ध्रुवी समुद्रों का ठंडा अँधियारा
चीर रहा है लम्बी बाँहें नील अनल की,
भिदी निराशा घुसी शलाका मेरे बल की।

[मुक्तिबोध रचनावली]

भाग गयी जीप

भाग गयी जीप, तुम
टापते खड़े रहे
हाय ! अपने आप पर
झींख-झख मारते
व काँपते खड़े रहे
ठेलमठेल धकापेल
भीड़ में भी बियाबान
सड़क एक सुनसान
और तुम जमीन में
गड़े रहे, गड़े रहे।

और यूँ ही अकस्मात्
निज के ही गाल पर
चपत एक जड़ दी
थप्पड़ एक मार ली
निज के गाल पर !!

"फोड़ो मत नारियल
शनिश्चर के सामने
मेरा भाल फोड़ लो
ईश्वर के सामने"

अभागे व भयंकर
वचन ये तुम्हारे

गड़ गये दिल में इस
दिमाग मे हमारे
सच तो है, सच तो है
ठेलमठेल, धकापेल !!
छूट गयी बस वह
चल दिये आगे लोग
बढ़ गये आगे लोग
फूल गये बढकर,
फल गये चढकर !!
अरे, तुम्हे पीछे छोड़
नये-नये मोड़ पर
बढने लगी बस वह।
खूब भागी, खूब दौडी
पहाड़ो के पास वह।

सच तो है कहना
गलत किन्तु भावना
कि जिसकी फिलासफी—
बस में ही ठुँस जाना जिन्दगी की जीत है
व इस घिनी कसौटी पर कसकर
हार गया मन औ' अन्तः
यह आत्मनिन्दा स्वर !!
गलत यह दर्शन
गलत यह भावना
सचमुच यदि तुम
चढ जाते बस मे उस
तुम्हारी ही प्यारी इस
झाड-तले झोपडी
के लिए तुम हीन-रस
हीन-चित् हीन-सत्
उसी समय हीन-मति
तत्काल सिद्ध होते

वह तुम्हे कभी नहीं
अपने ठंडे प्याऊ पर
स्नेह से पिलाती जल
हृदय का, प्राण का !!
तुममें कुछ
अच्छाई ही शेष थी
इसीलिए घबरा गये
पकड़ न सके बस
और वह छूट गयी
पीछे रह गये तुम !!

उन्नति के चक्करदार
लोहे के घनघोर
जीने में अंधकार !!
गुम कई सीढ़ियाँ है
भीड़ लेकिन खूब है
बडी ठेलमठेल है
ऊपर की मंजिल तक
पहुँचने में बीच-बीच
टूटी हुई सीढ़ियों मे
कुछ फँस गये कुछ
धड़ाम्-से नीचे गिर
मर गये सचमुच
प्रगति के चक्करदार
लोहे के घनघोर
जीने में साँस रुक
जाने से स्वर्गधाम
कई पहुँच गये प्राण !!

बस मिस हो गयी
कर गये मिस तुम
बहुत अच्छा हुआ यह

प्राणों में हमारे
समासीन पूर्ण तुम

समय के मारे तुम
केवल हमारे हो,
केवल हमारे हो !!

[भूरी भूरी खाक-धूल]

बबूल

...वह बबूल भी
दुबला, धूलभरा, अप्रिय-सा, सहज उपेक्षित,
श्याम, वक्र अस्तित्व लिये वह रक तिरस्कृत,
अपमानो को मौन झेलता, चिर-अपमानित,
पथ के एक ओर चुपचाप खड़ा है।
फटे-हाल जीवन की नंगी कठिन दीनता-सा जो वर्जित
वह बबूल है।
वृक्षों के अभिजात वर्ग की आँखों में वह सदा बहिष्कृत,
चिर-निर्वासित।
पर बसन्त के
अनियन्त्रित समीर के झोंके
उसको छू ही लेते है।
वह नग्न सुदामा, विवश क्या करे!
उसके सदा तुच्छ समझे जाने वाले
उस गहन हृदय मे
गूढ आँसुओं में
वसन्त के वासन्ती रंग चमक-चमक जाते है,
बरबस
उभर-उभर उठती है अन्तस्तल की छुपी लकीरे
आसमान के ताराओं की,
सलज चाँद की
लाल सूर्य की
आकृतियों मे घिरकर सब पर छा जाने को
उभर-उभर उठती हैं अन्तस्तल की छुपी लकीरें।

उसके तुच्छ उपेक्षित अन्तर
में अथाह रस का जो सागर
जाने क्यों सुदूर के रवि के आकुल एक परस के द्वारा,
यों बेचैन होकर अपने में
दूर दिशाएँ चाह रहा है अपने उर अंचल में ढँकना।
केवल क्षण-भर,
केवल क्षण-भर,
वही बहिष्कृत अन्तर
चाह रहा है दुलराना सारी जगती को
सब धरती को।
क्षण-भर, केवल क्षण-भर
दुलराने का सजल-नयन चुम्बन का
वह अधिकार माँगता है, निज नग्न डालियाँ हिला-हिलाकर
देह कंटकित होकर
माँग रही वरदान दिशा से कोमल आलिंगन का।

अरे, अचानक
जो बबूल के रक्तहीन कंटक-नख सूखे थे
अब नये रुधिर के आये,
निज कोमलता में शरमाये
और झेंपती हुई पत्तियाँ छोटी-छोटी
सूखी काली डालों पर गुपचुप आ बैठीं।
सूखा औ' खुरदरा तना, वे काली डालें
ज्यों मेहनत के धूलभरे कर, काली टाँगें
अपनी इस वसन्त-श्री पर ही लज्जित
गूढ़ हृदय की चिर-सम्पन्न भावना नित ही अवनत—
त्यों बबूल यह लजा गया निज नव-यौवन पर
पीले-फूल-लदी डालों को
सकुचा-सकुचा समेटता-सा,
जितना-जितना हुआ सकुचित लज्जानत वह
उतना-उतना उभर-उभर पड़ता यौवन-रस।
काँप रही है पत्ती-पत्ती

एक अकूल कम्प में डूबी शाखाएँ सपने में हँसती
पुलक-पुलक उठते हैं पीले फूलो के दल,
रस की एक भँवर में घिर कर
आत्म-विसर्जन-आकुल प्रतिपल।

अरे, अचानक,
उस बबूल के मूल
हृदय मे धारण करने वाली धरती
की वह काली नगी छाती
आप्लावित होती
बबूल के पीले आत्म-विसर्जित फूलों की वर्षा से।
सहसा सारी भूमि पीत,
तरु की आत्मा हलकी पुनीत
मन भी पुनीत, वन भी पुनीत।

उस बबूल को देख
तुरत ही
युगानुयुग सन्तप्त प्रपीड़ित जनता की महानता
वे ऊँचे-ऊँचे चित्र उभर कर
छा जाते मेरी आँखों में,
जिनके सम्मुख
देशकाल-व्यापी छाया सिद्धार्थ बुद्ध की भी
फीकी लगती है सचमुच।
एक अजस्र प्रयाण
युगों की छाती पर नंगे, बिवाइयों-भरे
रुधिर-आप्लुत चरणों का
जन-जन का, उसके प्राणों का,
मुझे जकड़ लेता है
काला स्याह नाग ज्यों चन्दन की डाली को।

एक चित्र आता आँखों के सम्मुख कोमल तैर-तैरकर।
एक गाँव है, वहाँ नदी है,

नदी कूल से दूर दिशा तक खेत बिछे हैं
हरे-हरे वे श्यामल-श्यामल,
जिनमें छिपी, छिपी फिरती है लाल ओढ़नी,
मुंह की श्यामल चमक सुरीली
साथ-साथ, मेहनत के पुतले
शोषण-हत गम खाने वाले
दुख के स्वामी
अविश्रान्त वे काले-काले हाथ व्यस्त है
रिक्त पेट की आँखों मे दुख के प्रवाह ले
जिनकी बेबस कर्मशीलता ने युग-युग के
गोरे कपोलो मे लाली की मदिरा भर दी।
आह ! त्याग की उत्कट प्रतिमा होरी महतो, भोली धनिया
जाग रहे हैं,
काम कर रहे है अब भी अपने खेतों में
उनकी श्वेत अस्थियों से इस युग का वज्र बनेगा भयकर।
वह बबूल
जो चिर-निर्वासित,
एक प्रतीक बना है केवल जन-जन के नि.सीम त्याग का।
मेरी खिड़की से दिखती है
होरी की वह याद।
जवानी मे आया है,
पीले फूलों को छिटकाता प्रिय बबूल वह,
अर्पण-आकुल, अत्मा-चेतना में विह्वल हो
चाह रहा है मज्जित करना दिशा-कूल को।

[मुक्तिबोध रचनावली]

मात्र अनस्तित्व का इतना बड़ा अस्तित्व
ऐसे घुप्प अँधेरे का इतना तेज़ उजाला,
लोग-बाग
अनाकार ब्रह्म के सीमाहीन शून्य के
बुलबुले में यात्रा करते हुए गोल-गोल
गोल-गोल
खोजते है जाने क्या ?
वेछोर सिफ़र के अँधेरे में बिला-बत्ती सफ़र
भी खूब है।

सृजन के घर में तुम
मनोहर शक्तिशाली
विश्वात्मक फ़ैंटेसी
दुर्जनों के भवन में
प्रचंड शौर्यवान अंट-सट वरदान !!
खूब रंगदारी है,
विपरीत दोनों दूर छोरों-द्वारा पुजकर
स्वर्ग के पुल पर
चुगी के नोकदार
भ्रष्टाचारी मजिस्ट्रेट, रिश्वतख़ोर थानेदार !
ओ रे निराकार शून्य
महान विशेषताएँ मेरे सब जनों की
तूने उधार लीं
निज को सँवार लिया
निज को अशेष किया
यशस्काय वन गया सर्वत्र आविर्भूत !

भई साँझ
कदम्ब-वृक्ष पास
मंदिर-चबूतरे पर बैठकर
जब कभी देखता हूँ तुझको
मुझे याद आते है—

भयभीत आँखों के हंस
व घावभरे कबूतर
मुझे याद आते हे मेरे लोग
उनके सब हृदय-रोग
घुप्प अँधेरे घर,
पीली-पीली चिन्ता के अंगारों-जैसे पर,
मुझे याद आती भगवान राम की शिवरी,
मुझे याद आती हे लाल-लाल जलती हुई ढिबरी
मुझे याद आता है मेरा प्यारा-प्यारा देश
लाल-लाव सुनहला आवेश।
अंधा हूँ,
ख़ुदा के बन्दों का बन्दा हूँ बावला
परन्तु कभी-कभी अनन्त सौन्दर्य सन्ध्या में शका के
काले-काले मेघ-सा
काटे हुए गणित की तिर्यक रेख-सा
सरीसृप-स्रक-सा।

मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं,
दाग है।
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है,
अग्नि-विवेक की।
नही, नही, वह—वह तो है ज्वलन्त सरसिज !!
ज़िन्दगी के दलदल-कीचड़ में धँसकर
वक्ष तक पानी मे फँसकर
मैं वह कमल तोड लाया हूँ—
भीतर से इसीलिए, गीला हूँ
पंक से आवृत
स्वय में घनीभूत
मुझे तेरी बिलकुल जरूरत नहीं हे।

ब्रह्मराक्षस

शहर के उस ओर खँडहर की त(॰)
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठंडे अँधेरे मे
बसी गहराइयाँ जल की...
सीढ़ियाँ डूबी अनेको
उस पुराने घिरे पानी में...
समझ मे आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।

बावडी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खड़े है मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।

विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बसकर
हवा मे तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जोकि
दिल में एक खटके-सी लगी रहती।

ब्रह्मराक्षस

शहर के उस ओर खँडहर की तरफ़
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठंडे अँधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की...
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में...
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।

बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।

विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बसकर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जोकि
दिल में एक खटके-सी लगी रहती।

बावड़ी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर
ले पुष्प-तारे-श्वेत।

उसके पास
लाल फूलों का लहकता झौर—
मेरी वह कन्हेर...
वह बुलाती एक ख़तरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुंह बावड़ी का
शून्य अम्बर ताकता है।

बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है,
व भीतर से उमड़ती गूंज की भी गूंज,
बड़बड़ाहट-शब्द पागल-से।
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात
स्वच्छ करने—
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर,
बाँह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ,
फिर मैल
फिर भी मैल!!

और...होंठों से
अनोखा स्तोत्र, कोई क्रुद्ध मंत्रोच्चार,
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार,

मस्तक की लकीरें
बुन रही
आलोचनाओं के चमकते तार ! !
उस अखड स्नान का पागल प्रवाह...
प्राण में संवेदना है स्याह ! !

किन्तु, गहरी बावडी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब
तल तक पहुँचते है कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुक कर 'नमस्ते' कर दिया।

पथ भूलकर जब चाँदनी
की किरन टकराये
कहीं दीवार पर,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
वन्दना की चाँदनी ने
ज्ञान-गुरु माना उसे
अति-प्रफुल्लित कटकित तन-मन वही
करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी !!

और, तब दुगुने भयानक ओज से
पहचान वाला मन
सुमेरी-बेबिलौनी जन-कथाओं से
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
वह तब से आज तक के सूत्र
छन्दस्, मंत्र, थियोरेम,
सब प्रमेयों तक
कि मार्क्स, एजेल्स, रसेल, टॉयनबी

वक्ष-बाँहे खुली फैलीं
एक शोधक की ।

व्यक्तित्व वह कोमल स्फटिक-प्रासाद-सा,
प्रासाद में जीना
व जीने की अकेली सीढियाँ
चढना बहुत मुश्किल रहा ।
वे भाव-सगत तर्क-सगत
कार्य-सामजस्य-योजित
समीकरणों के गणित की सीढियाँ
हम छोड़ दे उसके लिए ।
उस भाव-तर्क-व-कार्य-सामंजस्य-योजन-
शोध में
सब पडितों, सब चिन्तको के पास
वह गुरु प्राप्त करने के लिए
भटका !!

किन्तु—युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी—
...लाभकारी कार्य में से धन,
व धन मे से हृदय-मन,
और, धन-अभिभूत अन्तःकरण में से
सत्य की झाई
        निरन्तर चिलचिलाती थी ।

आत्मचेतस् किन्तु इस
व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन...
विश्वचेतस् बे-बनाव !!
महत्ता के चरण में था
विषादाकुल मन !
मेरा उसी से उस दिन होता मिलन यदि
तो व्यथा उसकी स्वयं जी कर
बताता मै उसे उसका स्वयं का मूल्य

उसकी महत्ता !
व उस महत्ता का
हम-सरीखों के लिए उपयोग,
उस आन्तरिकता का बताता मै महत्व !!

पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच,
ऐसी ट्रेजिडी है नीच !!

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया...
वह सघन झाड़ी के कँटीले तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
बिदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ !
क्यों यह हुआ !!
मै ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी चेतना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।

भूल-ग़लती

भूल-गलती
आज बैठी है जिरहबख्तर पहन कर
तख़्त पर दिल के;
चमकते है खड़े हथियार उसके दूर तक :
आँखे चिलकती है नुकीले तेज पत्थर-सी;
खड़ी है सिर झुकाये
        सब क़तारे
                बेजुबॉ बेबस सलाम में,
अनगिनत खम्भो व मेहराबों-थमे
                        दरबारे-आम मे।

सामने
बेचैन घावो की अजब तिरछी लकीरो से कटा
चेहरा
कि जिस पर कॉप
दिल की भाप उठती है ....
पहने हथकड़ी वह एक ऊँचा क़द,
समूचे जिस्म पर लत्तर,
झलकते लाल लम्बे दाग
बहते खून के।
वह कैद पर लाया गया ईमान...
सुलतानी निगाहो मे निगाहे डालता,
बेख़ौफ नीली बिजलियों को फेकता।

ख़ामोश !!

सब ख़ामोश

मनसबदार,
शाइर और सूफ़ी,
अल गजाली, इब्ने सिन्ना, अलबरूनी,
आलिमोफाजिल, सिपहसालार, सब सरदार
है ख़ामोश !!

नामंजूर,
उसको जिन्दगी की शर्म की-सी शर्त
नामंजूर,
हठ इनकार का सिर तान...खुद-मुख़्तार।
कोई सोचता उस वक़्त—
छाये जा रहे है सल्तनत पर घने साये स्याह,
सुलतानी जिरहबख्तर बना है सिर्फ़ मिट्टी का,
वो—रेत का-सा ढेर—शाहंशाह,
शाही धाक का अब सिर्फ़ सन्नाटा !!
(लेकिन, ना,
जमाना साँप का काटा)
भूल (आलमगीर)
मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह
लोहे का जिरहबख़्तर पहन, खूँख़्वार
हाँ, खूँख़्वार आलीजाह,
वो आँखें सचाई की निकाले डालता,
सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता,
करता, हमें वह घेर,
बेबुनियाद, बेसिर-पैर...
हम सब क़ैद हैं उसके चमकते तामझाम में,
शाही मुक़ाम में !!

इतने में, हमीं में से
अजीब कराह-सा कोई निकल भागा,

भरे दरबारे-आम में मैं भी
संभल जागा !!
क़तारों में खड़े खुदगर्ज बाहथियार
बख्तरबन्द समझौते
वहम कर, रह गये;
दिल में अलग जबड़ा, अलग डाढी लिये,
दुमुँहेपने के सौ तजुर्बों की बुजुर्गी से भरे,
डढ़ियल सिपहसालार संजीदा
सहम कर रह गये !!

लेकिन, उधर उस ओर,
कोई, बुर्ज के उस तरफ़ जा पहुँचा,
अँधेरी घाटियों के गोल टीलों, घने पेडों में
कहीं पर खो गया,
महसूस होता है कि वह बेनाम
बेमालूम दरों के इलाक़े मे
(सचाई के सुनहले तेज अक्सों के धुँधलके में)
मुहैया कर रहा लश्कर;
हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
सकल्प-धर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जायेगा !!

एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन

दुख तुम्हें भी है
दुख मुझे भी।
हम एक ढहे हुए मकान के नीचे
दबे हैं।
चीख़ निकलना भी मुश्किल है,
असम्भव...
हिलना भी।
भयानक है बड़े-बड़े ढेरों की
पहाड़ियों-नीचे दबे रहना और
महसूस करते जाना
पसली की टूटी हुई हड्डी।
भयंकर है! छाती पर वज़न टीलों
का रखे हुए
ऊपर के जड़ीभूत दबाव से दबा हुआ
अपना स्पन्द
अनुभव करते जाना,
दौड़ती रुकती हुई धुकधुकी
महसूस करते जाना भीषण है।
भयकर है।

वाह क्या तजुरबा है!!
छाती में गड्ढा है!!
पुराना मकान था, ढहना था, ढह गया,
बुरा क्या हुआ?

बड़े-बडे दृढ़ाकार दम्भवान
खम्भे वे ढह पडे !!
जड़ीभूत परतों मे, अवश्य, हम दब गये।
हम उनमे रह गये,
बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ ! !
पृथ्वी के पेट में घुसकर जब
पृथ्वी के हृदय की गरमी के द्वारा सब
मिट्टी के ढेर ये चट्टान बन जायेगे
तो उन चट्टानों की
आंतरिक परतों की सतहों में
चित्र उभर आयेगे
हमारे चेहरे के, तन-बदन के, शरीर के,
अतर की तसवीरे उभर आयेगी, सम्भवत ,
यही एक आशा है कि
मिट्टी के अँधेरे उन
इतिहास-स्तरों में तब
हमारा भी चिन्ह रह जायेगा।
नाम नही,
कीर्ति नही,
केवल अवशेष, पृथ्वी के खोदे हुए गड्ढों में
रहस्यमय पुरुषो के पजर और
जग-खायी नोको के अस्त्र !!
स्वय की जिन्दगी फासिल कभी
नही रही
क्योकि हम बागी थे,
उस वक़्त,
जब रास्ता कहाँ था ?
दीखता नही था कोई पथ।
अब तो रास्ते ही रास्ते है।
मुक्ति के राजदूत सस्ते है।

क्योंकि हम बागी थे,

आख़िर, बुरा क्या हुआ ?
पुराना महल था,
ढहना था, ढह गया।

वह चिड़िया,
उसका वह घोसला
जाने कहाँ दब गया।
अँधेरे छेदो मे चूहे भी मर गये,
हमने तो भविष्य
कह दिया था कि—
केंचुली उतारता साँप दब जायेगा अकस्मात,
हमने तो भविष्य पहले कह रखा था।
लेकिन अनसुनी की लोगों ने।
वैसे, चूँकि
हम दब गये, इसलिए
दुख तुम्हें भी है,
मुझे भी।

नक्षीदार कलात्मक कमरे भी ढह पड़े,
जहाँ एक जमाने मे
चूमे गये होंठ
छाती जकडी गयी आवेशालिगन मे
पुरानी भीतों की बास मिली हुई
इक महक
तुम्हारे चुम्बन की
और उस कहानी का अंगारी अग-स्पर्श
गया, मृत हुआ।।
हम एक ढहे हुए
मकान के नीचे दबे पड़े है
हमने पहले कह रखा था महल गिर
जायेगा।
खूबसूरत कमरों में कई बार,

हमारी आँखों के सामने,
हमारे विद्रोह के वावजूद,
वलात्कार किये गये,
नक्शीदार कक्षों में।
भोले निर्व्याज नयन हिरनी-से
मासूम चेहरे
निर्दोप तन-वदन
दैत्यों की वॉहो के शिकजों में
इतने अधिक
इतने अधिक जकड़े गये
कि जकड़े ही जाने के
सिकुडते हुए घेरे मे वे तन-मन
दबते-पिघलते हुए एक भाफ बन गये।
एक कुहरे की मेह
एक धूमैला भूत
एक देह-हीन पुकार,
कमरे के भीतर और इर्द-गिर्द
चक्कर लगाने लगी।
आत्म-चैतन्य के प्रकाश—
भूत बन गये।
भूत-वाधा-ग्रस्त
कमरों को अंध-श्याम सॉय-सॉय
हमने बताया तो
दंड हमी को मिला
बागी करार दिये गये
चॉटा हमी को पड़ा
बंद तहख़ानो में—कुओं में फेके गये
हमी लोग !!
क्योकि हमें ज्ञान था
ज्ञान—अपराध बना।
महल के दूसरे
और-और कमरों में कई रहस्य—

तकिये के नीचे पिस्तौल,
गुप्त ड्रॉअर,
गद्दियों के अंदर छिपाये-सिये गये
खून-रँगे पत्र, महत्वपूर्ण !!
अजीव कुछ फ़ोटो !!
रहस्य-पुरुष-छायाएँ
लिखती है
इतिहास इस महल का।

अजीब संयुक्त परिवार है—
औरते व नौकर और मेहनतकश
अपने ही वक्ष को
खुरदरा वक्ष-धड़
मान कर घिसती है, घिसते हैं
अपनी ही छाती पर जबर्दस्ती
विष-दन्ती भावों का नाग-मुख
रक्त-प्लुत होता है।
नाग जकड़ लेता है बाँहों को
किन्तु वे रेखाएँ मस्तक पर
स्वयं नाग होती है।
चेहरे के स्वयं-भाव सरीसृप होते है,
आँखों में जहर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुँडेरों से कूद अरे !
आत्महत्या करती हैं !!
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा,
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ ?
ठीक है कि हम भी तो दब गये,
हम जो विरोधी थे
कुओं-तहख़ानों में कैद-बन्द
लेकिन, हम इसलिए

बिजली की गेतियाँ व फावड़े
खोद-खोद
ढेर दूर कर रहे।
कहीं से फिर एक
आती आवाज —
'कई ढेर बिलकुल साफ हो चुके',
और तभी—
किसी अन्य गंभीर-उदात्त
आवाज ने
चिल्लाकर घोषित किया—
"प्राथमिक शाला के
बच्चों के लिए एक
खुला-खुला, धूप-धूप-भरा साफ
खेल-कूद-मैदान—सपाट—अपार—
यों बनाया जायेगा कि
पता भी न चलेगा कि
कभी महल था यहाँ भगवान इन्द्र का"
हम यहाँ जमीन के नीचे दबे हुए है।

गड़ी हुई अन्य धुकधुकियो,
खुश रहो
इसी में कि
वक्षों में तुम्हारे अब
बच्चे ये खेलेगे।
छाती की मटमैली जमीनी सतहों पर
मैदान, धूप व खुली-खुली हवा खूब
हँसेगी व खेलेगी।
किलकारी भरेंगे ये बालगण।

लेकिन, दबी धुकधुकियो,
सोचो तो कि
अपनी ही आँखों के सामने

विजली की गेतियाँ व फावड़े
खोद-खोद
ढेर दूर कर रहे।
कहीं से फिर एक
आती आवाज—
'कई ढेर बिलकुल साफ़ हो चुके',
और तभी—
किसी अन्य गंभीर-उदात्त
आवाज ने
चिल्लाकर घोषित किया—
"प्राथमिक शाला के
वच्चों के लिए एक
खुला-खुला, धूप-धूप-भरा साफ
खेल-कूद-मैदान—सपाट—अपार—
यों बनाया जायेगा कि
पता भी न चलेगा कि
कभी महल था यहाँ भगवान इन्द्र का"
हम यहाँ जमीन के नीचे दबे हुए हैं।

गड़ी हुई अन्य धुकधुकियो,
खुश रहो
इसी में कि
वक्षों में तुम्हारे अब
बच्चे ये खेलेंगे।
छाती की मटमैली जमीनी सतहों पर
मैदान, धूप व खुली-खुली हवा खूब
हँसेगी व खेलेगी।
किलकारी भरेंगे ये बालगण।

लेकिन, दबी धुकधुकियो,
सोचो तो कि
अपनी ही आँखों के सामने

खूब ! हम खेत रहे।
खूब काम आये हम !!
आँखों के भीतर की आँखों में डूब-डूब
फैल गये हम लोग !!

आत्म-विस्तार यह
बेकार नही जायेगा।
जमीन मे गडे हुए देहों की खाक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से
खिलेगे गुलाबी फूल।
सही है कि हम पहचाने नही जायेगे।
दुनिया मे नाम कमाने के लिए
कभी कोई फूल नही खिलता है
हृदयानुभव-राग-अरुण
गुलाबी फूल, प्रकृति के गन्ध-कोष
काश . हम बन सके।

[चाँद का मुँह टेढा है]